

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182573

UNIVERSAL
LIBRARY

UP-67-11-1-68-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 81.08**
G 68 F

Accession No. **P. 61**
H 2464

Author **Shau. K. S. S. S.**

Title **Y. S. S. S.**

This book should be returned on or before the date last marked below

पद्यमाला

Post Graduate Library
College of Arts & Commerce

सम्पादक

कृष्णदेव प्रसाद गौड़, एम. ए.

प्रधानाचार्य, डी. ए. वी. इण्टरमीडिएट कॉलेज, बनारस

तथा

रामपूजन निवारी, एम. ए.

प्राध्यापक, वि. व. भारती विश्वविद्यालय

Hindi Seminar Library

OSMANIA UNIVERSITY

No. २४६४



श्रवोदय साहित्य मंदिर,

बोली, (बसस्टेण्ड,) हेंदराबाद

मकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड

२७६ दादाभाई नौरोजी रोड, मुंबई-१.

१९५९

मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
लन्दन बम्बई कलकत्ता मद्रास मेलबोर्न
द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ कॅनाडा लिमिटेड
टोरांटो
सेंट मार्टिन्स प्रेस इन्क्०
न्यूयार्क

बर्न कन्वैशन को स्वीकृत करनेवाले समस्त देशों में
इस पुस्तक के स्वत्वाधिकार स्वरक्षित हैं ।

प्रथम संस्करण १९५५
पुनर्मुद्रण १९५९

Checked 1969

मूल्य: २)

भारत में निर्मित ।
आइ. एस. एस. डी. प्रेस, मद्रास में मुद्रित ।

दो शब्द

उच्चतर माध्यमिक श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए यह सकलन प्रस्तुत किया गया है। अत्यधिक सावधानी के साथ रचनाओं का चयन किया गया है, और हम आशा करते हैं कि हिन्दी काव्य साहित्य के परिचयार्थी विद्यार्थियों के लिए यह सग्रह उपयोगी सिद्ध होगा।

जिन कवियों और प्रकाशकों ने स्वत्त्व-संरक्षित कविताओं को सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान की है उनके हम आभारी हैं।

सम्पादक

पाठ्य पुस्तक

अनुक्रमिका

भूमिका	...	...	...	७
१ . कबीरदास	...	...	...	३३
२ . सूरदास	...	...	...	३९
३ . तुलसीदास	...	...	...	४७
४ . नन्ददास x	...	...	...	५४
५ . केशवदास x	...	...	...	५८
६ . रहीम	...	...	...	६१
७ . बिहारीलाल	...	...	...	६५
८ . पद्माकर x	...	...	...	७०
९ . देव x	...	...	...	७६
१० . सेनापति x	...	...	...	८१
११ . भारतेन्दु हरिश्चन्द्र x..	...	...	...	८६
१२ . मधिलीशरण गुप्त	...	...	...	९३
१३ . माखनलाल चतुर्वेदी	...	...	...	१०३
१४ . जयशंकर 'प्रसाद'	...	...	...	१०८
१५ . सुमित्रानन्दन पंत	...	...	...	११७
१६ . सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	...	...	...	१२४
१७ . महादेवी वर्मा	...	...	...	१३१
१८ . बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	...	...	...	१३७
१९ . रामधारी सिंह 'दिनकर'	...	...	...	१४२
२० . भावतोचरण वर्मा	...	...	...	१४८
२१ . हरवंश राय 'बच्चन'	...	...	...	१५३
टिप्पणियाँ	...	...	...	१६१

भूमिका

आधुनिक हिन्दी कविता में जिस 'भाषा' में हम परिचित हैं उसका प्रयोग साहित्य में बहुत हाल में होने लगा है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत अथवा बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक कविता की भाषा ब्रजभाषा थी। इसी समय में धीरे-धीरे 'खड़ीबोली' का प्रयोग कविता के लिये होने लगा। लेकिन हिन्दी कविता अथवा हिन्दी साहित्य की परम्परा पुरानी है। काल और क्षेत्र की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का प्रभाव बहुत व्यापक रहा है। जिस विशाल क्षेत्र में आज खड़ीबोली का प्रयोग साहित्यिक उपयोगों के लिए किया जा रहा है उसमें सब समय और सर्वत्र साहित्य के लिए एक ही भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में नाना उप-भाषाएँ हैं जिनमें साहित्यिक कृतियों का अभाव नहीं। मैथिली, अवधी, ब्रजभाषा तथा राजस्थानी आदि इसी क्षेत्र के अंतर्गत हैं जिनमें उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से खड़ीबोली से इनका थोड़ा-बहुत अंतर है फिर भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन और इतिहास-लेखक इन भाषाओं की कृतियों को हिन्दी साहित्य के अंतर्गत मानते हैं। भाषा की दृष्टि से कुछ अंतर होने पर भी परम्परा और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से हिन्दी भाषा क्षेत्र में कम या बेशी समानता दीख पड़ती है।

हिन्दी कविता के इतिहास और परम्परा का अध्ययन हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के साहित्यिक प्रयत्नों की दीर्घकालीन परम्परा की दृष्टि में रखकर ही किया जा सकता है। इस परम्परा का इतिहास पिछले एक हजार वर्षों से बहने वाली अविच्छिन्न धारा का इतिहास है। नाना प्रभावों से अनुप्रेरित होकर यह धारा भिन्न-भिन्न शाखाओं में फूटती रही है। नाना प्रवृत्तियों से इसके स्वरूप में परिवर्तन भी होता रहा है। इन प्रवृत्तियों और प्रभावों का अध्ययन भी साहित्य के इतिहास के लिए अपेक्षित है।

लेकिन यह संभव नहीं है कि कम पृष्ठों में उन पर विशद रूप से प्रकाश डाला जाय। फिर भी जहाँ तक हो सकेगा उनका निर्देश किया जायगा।

अध्ययन की सुविधा के लिये हिन्दी साहित्य के अध्येता इस एक हजार वर्ष के साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त करते हैं। वसे साहित्य के अध्ययन के लिए इस प्रकार का काल-विभाजन चित्य है। इस प्रकार के काल-विभाजन से एक ऐसी धारणा हो जाती है जिससे साहित्य की जीवंत धारा को हम एक संकुचित दायरे में बँधा हुआ मानने लगते हैं। वास्तव में नाना प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक शक्तियाँ समाज में क्रियाशील रहती हैं जिनसे समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। समाज के इन परिवर्तनों के दर्शन हमें तत्कालीन साहित्य में हो जाते हैं। विशेष सामाजिक परिस्थिति में विशेष प्रकार के साहित्य की सृष्टि होती है और एक काल का साहित्य दूसरे काल से इसीलिए भिन्न हो जाता है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि किसी विशेष काल में सिर्फ़ एक ही प्रकार की सामाजिक शक्ति क्रियाशील रहती है और एक विशेष वर्ष या महीने से वह संपूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर एक अन्य शक्ति आ धमकती है। मानव समाज में नाना प्रकार की विचारधाराएँ वर्तमान रहती हैं और उस समाज को रूप देती रहती हैं। उनमें अगर कोई विशेष शक्तिशालिनी हुई तो उसीका प्रभाव उस काल में उस समाज में परिलक्षित होता है किंतु अन्य विचारधाराएँ नाना भावों से समाज को प्रभावित करती रहती हैं। साहित्य के काल-विभाजन को इसी अर्थ में लेना समीचीन होगा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के ये चार काल यों हैं :—वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल। कालों के नामकरण के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग 'वीरगाथा काल' को 'आदि काल', और कुछ लोग उसे 'सिद्ध-सामंत-काल' तथा 'चारण काल' कहना पसंद करेंगे। 'आदि काल' में वीरगाथाएँ 'राजस्तुतिमूलक रचनाएँ' तथा 'सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य' प्रधान है। 'भक्ति काल' में भक्ति का स्वर

प्रधान रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भक्ति काल' के भीतर पहले तो दो काव्य धाराओं—'निर्गुण धारा और सगुण धारा'—का निरूपण किया है और फिर प्रत्येक धारा की दो-दो शाखाएँ बतलाई हैं। निर्गुण धारा के अंतर्गत ज्ञानाश्रयी तथा प्रेममार्गी (सूफी) शाखा, तथा सगुण धारा के अंतर्गत राम-भक्ति और कृष्णभक्ति शाखा का उल्लेख किया है। रीति काल में 'रीति-बद्ध रचनाओं की परम्परा' ही प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती है जब कि आधुनिक काल वक्तव्य-विषय, शैली, साहित्य के नये-नये प्रयोगों की दृष्टि से अत्यंत व्यापक और महत्त्व का है।

आदि काल

हिन्दी साहित्य के 'आदि काल' के पूर्व अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा मिलती है जो आदि काल में भी प्रायः चलती रहती है। "दीर्घकाल से हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के पूर्व रूप के रूप में ही ग्रहण करते आए हैं।" अपभ्रंश के 'प्रायः सभी काव्य-रूपों की परम्परा' हिन्दी में देखने को मिल जाती है। अपभ्रंश का दोहा छंद हिन्दी में बहुत दिनों तक चलता रहा है। अपभ्रंश काव्य में 'निर्गुण-प्रधान और धार्मिक उपदेशमूलक दोहे, शृंगारी दोहे, नीति-विषयक दोहे तथा वीर रस के दोहे पाए जाते हैं। इनकी परम्परा ज्यों की त्यों हिन्दी में पाई जाती है। अपभ्रंश-साहित्य में चरित्र-काव्य तथा गान करने योग्य पद भी पाए जाते हैं। हिन्दी साहित्य में वही परम्परा चलनी चली आई है।

पुरानी हिन्दी का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह पद्य में है। 'आदि काल' का हिन्दी साहित्य अपने आप में महत्त्वपूर्ण तो है ही साथ ही पर-वर्ती काल के साहित्य को समझने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश उस काल की साहित्यिक सामग्री बहुत-कुछ तो मिलती ही नहीं और जो उपलब्ध है उसकी प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। अतः उस काल की प्रवृत्ति के संबंध में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से

कहना कठिन हो गया है। भविष्य में संभव है कि खोज द्वारा उस काल के कुछ ग्रन्थ मिल जायें जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध हो और तब इस बात की आशा की जा सकती है कि उस काल की बहुत-सी बातों का पता चल जाय। उस काल की अधिकांश चीजें अंधकार में पड़ी हुई हैं।

ईसवी सन की दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की जो साहित्यिक सामग्री मिलती है उसकी भाषा “प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बढ़) हिन्दी है।” उस समय के कवि, चारण आदि जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह उस समय की बोलचाल की भाषा नहीं थी। उन्होंने कवि-परम्परा में आनेवाली भाषा को ही अपनाया। यह भाषा बहुत पुरानी पड़ जाती थी। भाषा के प्रयोग के सवध में इस काल में एक और प्रवृत्ति दीख पड़ती है। तत्सम शब्दों के प्रयोग के प्रति लोपो का आग्रह बढ़ गया लेकिन पद्य की भाषा अभी तक इसमें अच्छी रही। तत्सम शब्दों के बदले तद्भव शब्दों का ही प्रयोग पद्य में होता रहा। वैसे इस काल में दोनों प्रकार की भाषाओं के प्रयोग के उदाहरण मिलने हैं—एक ओर प्राकृताभास पुरानी काव्य भाषा का प्रयोग और दूसरी ओर बोलचाल की भाषा का। विद्यापति की दोनों भाषाओं की रचनाएँ उपलब्ध हैं।

इस काल की राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक अवस्था कुछ ऐसी थी कि सर्वत्र विशृंखलता के दर्शन होते हैं। कोई केंद्रीय राज्यशक्ति नहीं थी। देश की राज्यशक्ति बिल्कुल बिखरी हुई थी। छोटे-छोटे राज्य देश के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। आपस में युद्ध करना ही उनका एक मात्र काम रह गया था। उसी समय में मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गए थे। स्वतंत्र हिन्दू राजाओं के साथ इन मुसलमान आक्रमणकारियों के युद्ध होते ही रहते थे। दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के बहुत दिनों बाद तक हिन्दू राजाओं के साथ उनके युद्ध का सिलसिला चलता रहा। ये हिन्दू राजा आपस में भी लड़ते रहते थे। उस समय के बहुत से कवियों और चारणों ने अपने अपने राजाओं की बीरता, दानशीलता

आदि के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किए हैं। ये वर्णन तत्कालीन इतिहास को समझने में सहायक नहीं हो सकते, लेकिन उस समय के काव्य-रूपों तथा काव्य-रूढ़ियों को समझने में मदद पहुँचा सकते हैं।

राजनैतिक अवस्था के समान ही धार्मिक स्थिति भी कुछ कम विश्रुत नहीं थी। बाह्याचार ही प्रधान हो उठे थे। तीर्थाटन, नाना प्रकार के व्रत, उपवास आदि तक ही धर्म का आदर्श सीमित रहा। उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों में नात्रिकों, वामाचारियों, नाथपंथियों, योगियों आदि का बोल-बाला था। बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान में परिणत हो गया था। इन परिस्थितियों में समाज एक निचले स्तर तक पहुँच गया था। जातियाँ उप-जातियाँ बनती जा रही थी। मम्प्रदायों और उप-मम्प्रदायों की संख्या बढ़ती जा रही थी। मुसलमानों के आक्रमण के बाद में हिन्दू समाज में जाति-शुद्धि पर अधिक जोर दिया जाने लगा और आचार-पालन की कठोरता बढ़ती गई। इस प्रकार की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति में किसी प्रकार के उच्च साहित्य की रचना दुष्कर थी।

इस काल में दो श्रेणियों की रचनाएँ मिलती हैं। एक तो जैन प्रभावान्वित अपभ्रंश की रचनाएँ जो जैन भाडारों में सुरक्षित हैं और दूसरी लोकभाषा की रचनाएँ। इनमें जैन भाडारों से प्राप्त रचनाएँ तो प्रामाणिक हैं लेकिन दूसरी की प्रामाणिकता के संबंध में सब समय विश्वास नहीं किया जा सकता। दूसरे प्रकार की रचनाओं में आदि काल के 'रासो' ग्रंथ हैं। इन 'रासो' ग्रंथों में खुमान रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, विजय पाल रासो आदि के नाम लिए जाते हैं। लोक-मुख से प्राप्त इन रचनाओं का रूप वही नहीं रह गया है जो मूल का था। उस काल के ग्रंथों में 'पृथ्वीराज रासो' सब से मुख्य है।

'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता चंदबरदाई था जो दिल्ली के राजा पृथ्वीराज का मित्र और सलाहकार था। कहते हैं कि महाराज पृथ्वीराज और चंदबरदाई का जन्म एक ही दिन लाहौर में हुआ और एक ही दिन दोनों की मृत्यु हुई। 'पृथ्वीराज रासो' एक बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसमें

ढाई हजार पृष्ठ है। इसमें पहले के प्रचलित प्रायः सभी शब्दों का व्यवहार किया गया है और महाराज पृथ्वीराज के जीवन संबंधी नाना घटनाओं और युद्धों का वर्णन है। संयोगिता का स्वयंवर, पृथ्वीराज के साथ उसका गंधर्व विवाह, जयचंद और पृथ्वीराज की शत्रुता, शहाबुद्दीन गोरी के साथ युद्ध आदि का वर्णन है। इसमें पृथ्वीराज के साथ अन्य राजाओं के युद्ध तथा कई राजकन्याओं से उनके विवाह का भी वर्णन है। यह ग्रंथ विद्वानों के बीच वितण्डा का कारण बना हुआ है। कुछ लोग इसे प्रामाणिक मानते हैं और कुछ लोग अर्द्ध-प्रामाणिक मानते हैं।

‘पृथ्वीराज रासो’ में बहुत-सी ऐतिहासिक असंगतियाँ हैं। भाषा की दृष्टि से भी उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। उसमें भाषा के नये रूपों और प्रयोगों को देखने से लगता है कि मानो ‘पृथ्वीराज रासो’ मौखिक रूप में ही चला आ रहा था और बाद में उसे लिखित रूप दिया गया जिसके कारण उसमें भाषा का नया रूप देखने को मिलता है अथवा मूल ग्रंथ में बाद में बहुत सी बातें जोड़ दी गई हैं। डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवी प्रसाद, बूलर, आदि ‘पृथ्वीराज रासो’ को प्रामाणिक नहीं मानते। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के पक्ष में बहुत से तर्क दिए हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे अर्द्ध-प्रामाणिक मानने के पक्ष में हैं।

उस काल की कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिल जाती हैं जिनमें खड़ी बोली का रूप देखने को मिलता है। अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं। अमीर खुसरो की रचनाएँ सन् १२९३ ई० में प्रारम्भ हुईं। लेकिन उस काल की अन्य रचनाओं के समान “खुसरो के नाम पर संगृहीत पहेलियों में कुछ प्रक्षिप्त और पीछे की जोड़ी हुई पहेलियाँ भी मिल गई हैं, इसमें संदेह नहीं।” अतएव अमीर खुसरो की रचना के आधार पर, जो मूल रूप में नहीं मिलती, किसी साहित्यिक तथ्य को खोज निकालना उचित नहीं माना जा सकता।

साहित्य के इतिहास की दृष्टि से मंथिल कोकिल विद्यापति की रचनाएँ

बहुत महत्त्व की हैं। उनकी पदावली के अलावे उनके दो ग्रंथ, कीर्तिलता और कीर्तिपताका उस समय के पूर्वी अंचल के समाज, साहित्य और भाषा का परिचय देते हैं। पदावली में विद्यापति ने मैथिली भाषा का प्रयोग किया है। बहुत दिनों तक बंगाली साहित्यिक विद्यापति को बंगाली मानते रहे। पदावली में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला के वर्णन हैं। शिव आदि के संबंध में भी उनके पद मिलते हैं। 'कीर्तिलता' में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्ति सिंह का यशोगान किया है। इस ग्रंथ से ऐतिहासिक तथ्यों का बहुत कुछ पता चलता है। ऐतिहासिक काव्यों में इस ग्रंथ का एक विशेष स्थान है। विद्यापति का जन्म सन् १३६० ई० के लगभग मानते हैं।

भक्ति काल

ईसवी सन् की पंद्रहवी तथा बाद की शताब्दियों की रचनाएँ अब तक की रचनाओं से भिन्न प्रकृति की हैं। चौदहवीं शताब्दी के बाद का साहित्य, जिसे हम 'भक्ति-साहित्य' कहते हैं, अत्यंत प्रभावशाली, प्रेरणा-दायक तथा समाज पर गहरा और व्यापक प्रभाव डालनेवाला था। यह बिल्कुल अभिभूत कर देनेवाला साहित्य है। इस साहित्य के संबंध में डॉ० ग्रियर्सन ने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पंद्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आंदोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल हैं जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आंदोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि आज भी वह प्रभाव वर्तमान है।" डॉ० ग्रियर्सन आश्चर्यचकित होकर इस साहित्य के प्रादुर्भाव और विकास की कहानी जानना चाहते हैं।

भक्ति-आंदोलन के संबंध में कई तरह के बिचार प्रकट किए गए हैं।

भक्ति साहित्य के प्रादुर्भाव और विकास के संबंध में यह भी कहा जाता है कि मुसलमानों द्वारा पराजित हिन्दू जाति की प्रतिक्रिया ने लोगों को भक्ति की ओर आकृष्ट किया। देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। हिन्दुओं के भीतर वह प्रतिरोध की शक्ति नहीं रह गई थी। उनके भीतर न किसी प्रकार का उत्साह रह गया और न गौरव-बोध। उन्हें नाना प्रकार के अपमान सहने पड़ते थे। हिन्दू समाज के भीतर जैसे किसी प्रकार का जीवन नहीं रह गया। सर्वत्र पस्तहिम्मती और मुर्दनी छाई रही। ऐसी परिस्थिति में हिन्दू समाज के लिए भगवान् के सिवा कोई सहारा नहीं रह गया था।

कुछ विद्वानों को यह मानने में संकोच है कि हिन्दी का भक्ति-साहित्य 'एक पराजित हतदर्प जाति की सम्पत्ति है।' मुसलमानों के आगमन और उनकी विजय की प्रतिक्रिया को स्वीकार करते हुए भी उन्हें यह स्वीकार नहीं कि भक्ति-साहित्य के बनने में उसे इतना महत्त्व दिया जाय। उनका कहना है कि मुसलमानों के आगमन के पहले से ही समाज की विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक शक्तियाँ उसे इसी ओर खींचे लिए जा रही थीं। उनका कहना है कि "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बरह आना वंसा ही होता जैसा आज है।" इसे वे भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास मानते हैं।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि तत्कालीन समाज में बाह्याचार, तीर्थाटन आदि पर लोगों का विशेष ध्यान था। लोगों में अंधविश्वास तथा नाना प्रकार के कुसंस्कार भरे हुए थे। तंत्र, मंत्र, जादू-टोना का पूरा प्रचार था। सिद्धों और योगियों के चमत्कारों में लोगों का पूरा विश्वास था। नाना प्रकार की कुरीतियाँ समाज में फैली हुई थीं। हिन्दुओं के बाह्याचार और विधि-विधान आदि पर नाथपंथी योगी तथा वज्रयानी सिद्ध करारी चोट करते थे। इन सभी पूजा, व्रत, तीर्थाटन आदि को वे निस्सार और व्यर्थ बतलाते थे। हिन्दू जन-समुदाय की यही धार्मिक स्थिति थी। हमने यह भी देखा है कि जातियाँ-उप-जातियाँ बनने से भी हिन्दू-

समाज कामजोर होता जा रहा था। धार्मिक और सामाजिक संकीर्णता के बंधन से समाज जकड़ा हुआ था।

हिन्दू समाज के शास्त्रज्ञ विद्वानों को जैसे इन सभी बातों से कोई मतलब न हो। वे शास्त्रार्थ में लगे हुए थे। टीकाओं पर टीकाएँ लिखते जाना ही वे अपना परम कर्तव्य मानने लगे थे। स्वतंत्र चिन्तन का उनमें बिल्कुल अभाव हो गया था। उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र को काफी सीमित कर रखा था। उनका विश्वास था कि जो कुछ भी उत्तम है वह पहले ही लिखा जा चुका है और उनका काम उन्हें समझने भर की चेष्टा कर लेना है। नाथों और सिद्धों की कटु आलोचना भी व्यर्थ के आचार्यों तक ही सीमित रही। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं दिया जो तत्कालीन समाज को अनुप्राणित कर सके।

हिन्दू समाज की ऐसी धार्मिक और सामाजिक अवस्था थी जब उसे इस्लाम के संपर्क में आना पड़ा। इस्लाम के एकेश्वरवाद उसकी धर्म-साधना और सामाजिक आचार-व्यवहार से इस समाज का परिचय हुआ। हिन्दू-समाज धर्म के मामले में उदार है और व्यक्तिगत साधना का पक्षपाती है लेकिन सामाजिक मामलों में कट्टर और दकियानूस है। वैसे हिन्दू समाज इस बात को भी स्वीकार करता है कि चरित्र की शुद्धता से किसी भी जाति का व्यक्ति श्रेष्ठता लाभ कर सकता है। इस्लाम धर्म इसके विपरीत मजहब के मामले में कट्टर है। उसमें व्यक्तिगत साधना के बदले समूहगत उपासना को ही स्वीकार किया जाता है। मजहब के मामले में कट्टर होते हुए भी सामाजिक मामलों में इस्लाम उदार है। उसमें प्रवेग करने पर किसी व्यक्ति की सारी विशेषता दूर हो जाती है और वह समाज में समान पद पाने का अधिकारी हो जाता है। इस समाज के संपर्क ने हिन्दू समाज में जाति-पाँति की संकीर्णता को और भी कठोर कर दिया। अपने को 'विशुद्ध' बनाए रखने के प्रयास में समाज और भी सिमटता गया। इसका फल यह हुआ कि बहुत सी जातियों ने अपने को एक ऐसी स्थिति में पाया जिसमें न वे एक समाज की रही और न दूझरे

समाज की ही हो सकीं। इन उपेक्षित जातियों में बहुत-सी धीरे-धीरे इस्लाम धर्म को ग्रहण करने लगीं।

उत्तर भारत के हिन्दू समाज की ऐसी ही स्थिति थी जब दक्षिण से भक्ति की धारा आई जिसने संपूर्ण उत्तर भारत को आप्लावित कर दिया। इसने हिन्दू समाज में नवीन प्राण का संचार किया। भगवान् की लीला, भगवान् की करुणा, उनका प्रेम, उनकी शक्ति सब को शीतलता पहुँचाने वाली थी। शरणागतों का वे उद्धार करने वाले हैं। एक बार जिसने उनकी शरण ग्रहण की उसका भव सागर से पार हो जाना सहज था। नीच-से-नीच व्यक्ति भी उनकी करुणा और प्रेम का पात्र था। इस प्रकार की भक्ति के प्रसार का फल यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था बनी तो रही लेकिन उसकी कठोरता कम हुई।

सगुण और निर्गुण धाराएँ

इस काल के दो महात्माओं—रामानंद और बल्लभाचार्य—का प्रभाव अत्यंत व्यापक रहा। भक्ति-काल का हिन्दी साहित्य इनमें से एक या दूसरे द्वारा प्रवर्तित भक्ति भावधारा से प्रभावित है। हम पहले ही देख चुके हैं कि भक्ति की दो मुख्य धाराएँ हैं, एक निर्गुण और दूसरी सगुण। सगुण भक्तों की यह विशेषता रही है कि वे भगवान् के सगुण रूप को मानकर उससे भक्ति करते हैं लेकिन उसके अव्यक्त रूप को एकदम नहीं भुला देते। अपने इष्टदेव के सगुण और व्यक्त रूप के साथ वैयक्तिक और रागात्मक संबंध तो अवश्य स्थापित करने हैं लेकिन उसके अव्यक्त रूप की ओर भी संकेत अवश्य कर देते हैं। इस प्रकार से सगुण भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानते हैं। भगवान् का निर्गुण रूप ज्ञानमार्गी भक्तों को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

स्वामी रामानंद और महाप्रभु बल्लभाचार्य में स्वामी रामानंद का संबंध तो सगुण और निर्गुण मार्गी दोनों प्रकार के भक्तों से है लेकिन महाप्रभु बल्लभाचार्य का संबंध केवल सगुण मार्ग की कृष्णाश्रयी शाखा से है। स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में एक ओर जहाँ कबीर, धना,

पीपा, रैदास आदि निर्गुण-मार्गी भक्त हैं वहाँ दूसरी ओर तुलसीदास जैसे सगुण-मार्गी भक्त । इसमें पता चलता है कि रामानंद प्रवर्तित धर्म-साधना कितनी उदार है । दोनों प्रकार के भक्तों में केवल 'राम' की भक्ति ही समान है । इसमें यह भी पता चलता है कि रामानंद के भीतर किसी प्रकार की सकीर्णता नहीं थी । उनके लिए अतन्त्र भक्ति ही मुख्य वस्तु थी । इनके मुख्य शिष्यों में तथाकथित नीच जाति के लोग भी थे । इस प्रकार में साधना क्षेत्र के ध्येय को उन्होंने किसी भी प्रकार से संकुचित नहीं होने दिया । स्वामी रामानंद का ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान रहने का लोग अनुमान लगाते हैं ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७८ ई० में हुआ था और वे सन् १५३० ई० तक जीवित रहे । वे बहुत बड़े शास्त्रज्ञ थे । उनका कहना है कि भगवान् जब जीव पर अनुग्रह करते हैं तभी वह प्रेममयी भक्ति की ओर प्रवृत्त होता है । भगवान् के इस अनुग्रह को पुष्टि कहते हैं । इसीलिए वल्लभाचार्य के प्रवर्तित मार्ग को पुष्टि-मार्ग कहते हैं । श्री कृष्ण वल्लभाचार्य के उपास्य हैं । कृष्ण ही परब्रह्म हैं और सब दिव्य गुणों से सम्पन्न हैं । उनकी लीलाएँ नित्य हैं । भगवान् की नित्य-लीला-सृष्टि में वृंदावन, यमुना आदि नित्य रूप में वर्तमान हैं । इस नित्य-लीला-सृष्टि में प्रवेश पाना ही जीव का चरम साध्य है । सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से ही दीक्षा ली थी । लीला-गान करने की ओर उन्होंने सूरदास को प्रवृत्त किया ।

निर्गुण-मार्गी भक्तों में कबीर, रैदास, दादू आदि प्रमुख हैं । इन भक्त कवियों में कबीर का स्थान प्रमुख है । निर्गुण भाव के साधकों में नामदेव का नाम आता है जिन्हें कबीर ने बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है । नामदेव महाराष्ट्र के थे और उनके भजन हिन्दी और मराठी दोनों में प्राप्त हैं ।

कबीर काशी की किसी जुलाहा परिवार में उत्पन्न हुए थे । वैसे उनके जन्म के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि वे किसी विधवा ब्राह्मणी के पत्र थे और

उनका पालन-पोषण एक जुलाहा दम्पति ने किया था। कबीर की जन्म तिथि के संबंध में मतभेद है। फिर भी विद्वानों का विचार है कि कबीरदास का जन्म सं० १४५६ अर्थात् १३९९ ई० में हुआ था। रामानंद जी से इनके दीक्षा ग्रहण करने की जो कहानी कही जाती है वह काफी मनोरंजक है। कहा जाता है कि रामानंद जी से शिष्यत्व ग्रहण करने के उद्देश्य से कबीर एक पहर रात रहते गंगा के उस घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट गए जहाँ रामानंद जी रोज स्नान करने जाया करते थे। अँधेरे में उनके शरीर पर रामानंद जी का पैर लग गया और वे 'राम राम' कह उठे। कबीर ने इसे ही उनका मंत्र मान लिया और अपने को उनका शिष्य कहने लगे।

कबीरदास भक्त थे और अपने प्रेमी भगवान् को पाने के लिए उन्होंने अपने-आप को संपूर्ण रूप से दे दिया था। कबीर ने बाह्याचारों को व्यर्थ माना है और उन पर करारी चोट की है। उन्होंने सहज-सत्य को जैसे पा लिया था। देशाचार व नाना प्रकार के विधि-विधान को वे भेद-भाव उत्पन्न करने वाला मानते थे। कर्मकांड और बाह्याचार को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों के लिए उन्होंने खूब खरी-खोटी भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने जो कुछ भी कहा है साफ शब्दों में कहा है। रूपको और अन्योक्तियों द्वारा उन्होंने ज्ञान की बातें कहीं हैं और साधना के रहस्यों का उद्घाटन किया है। वे पढ़े-लिखे नहीं थे और न कविता के लिए उन्होंने कविता ही की है। फिर भी अपनी अनुभूतियों को उन्होंने लोकभाषा में कुछ इस प्रकार में प्रकट किया है कि उसमें कवित्व रस का पूर्ण रूप से समावेश हो गया है। वे अद्भुत प्रतिभाशाली महापुरुष थे।

कबीर की वाणियों का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है। इसका कबीर पंथी सम्प्रदाय में बहुत अधिक समादर है। बीजक पर कई पांडित्यपूर्ण टीकाएँ भी लिखी गई हैं। इसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। रमैनी इसका महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा है। ये दोहे कबीर पंथियों में

‘माखी’ के नाम से प्रसिद्ध है। ‘सबद’ वास्तव में पद है जो गाए जा सकते हैं।

रामभक्ति शाखा के भक्तों में गोस्वामी तुलसीदास का स्थान प्रमुख और श्रेष्ठ है। ईसवी सन् की सोलवी शताब्दी के अंत में इनका प्रादुर्भाव हुआ। तुलसीदास असाधारण प्रतिभावाले महात्मा थे। हिन्दी-काव्य का क्षेत्र इनकी प्रतिभा के आलोक में जगमगा उठा। अपने काल की प्रचलित प्रायः सभी काव्य-शैलियों का प्रयोग बड़ी खूबी के साथ उन्होंने किया। भाषा, रचना-शैली, वक्तव्य-विषय, सभी दृष्टियों में उनकी रचनाएँ अनीव समृद्ध हैं। चलती भाषा का सस्कार और परिमार्जन उनकी रचनाओं में परकाष्ठा तक पहुँच गया है। भाषा के प्रयोग का नैपुण्य उनमें सर्वत्र देखने को मिलता है। वक्तव्य विषय के अनुकूल भाषा अपने आप हो जाती है, जैसे कोई प्रयास नहीं किया गया हो। प्रसंगानुसार भाषा या तो सम्स्कृत गर्भित हो जाती है या लौकिक रहती है।

डा० ग्रियर्सन ने कहा है कि ‘बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे।’ नाभादास ने इन्हें ‘कलिकाल का बान्मीक’ कहा है। एक ही व्यक्ति में एक ही साथ इतनी विशेषताओं का एकत्र होना दुर्लभ है। साहित्य के क्षेत्र में और उसी प्रकार से साधना के क्षेत्र में वे अपने-जैसे-आप ही थे। वे कवि, द्रष्टा, लोकनायक, महात्मा सभी कुछ थे, फिर भी उनका व्यक्तित्व अत्यंत मधुर था।

तुलसीदास की भक्ति दाम्य भक्ति थी। उनके उपास्य राम हैं। अपने आराध्य में उनका अटूट विश्वास है। राम करुणामय है। अधम-उधारन है। उनको भी भवसागर से पार कर देगे। उनका रूप ऐसा है कि उसे देखकर कोई भी मोहित हुए बिना नहीं रह सकता। राम का मनोहर रूप जब-जब उन्हें याद आता है, वे सब कुछ भूल जाते हैं, गद्गद् हो जाते हैं। उस रूप का वर्णन करते वे अघाते नहीं। वैसे उनके सम्पूर्ण साहित्य में संयम का पालन किया गया है। मर्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं हुआ है।

तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय की है। अपनी असाधारण प्रतिभा और ज्ञान के द्वारा इस दिशा में उन्होंने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। समाज, साधना, साहित्य, लोक-व्यवहार, सर्वत्र उन्होंने सामंजस्य ले आने की चेष्टा की है। उनकी भक्ति-पद्धति जीवन के किसी पक्ष को छोड़कर नहीं चलती। उन्होंने जिस समाज को देखा था वह अत्यंत ही हीनावस्था में था। संपूर्ण समाज शृंखलाविहीन और अस्तव्यस्त था। संकीर्णता, पारस्परिक विद्वेष और विरोधों से समाज विलकुल जर्जर हो गया था। इस समाज के लिए तुलसीदास की समन्वय की प्रचेष्टा अमृत तुल्य थी। तुलसीदास के ग्रंथों में रामचरित मानस, विनयपत्रिका, बरवै रामायण, कवितावली, दोहावली, गीतावली आदि प्रसिद्ध हैं। और भी अन्य भक्त-कवियों ने रामचरित को लेकर काव्य-ग्रंथों का प्रणयन किया है लेकिन तुलसीदास की लोकप्रियता के सामने वे फीके पड़ गए हैं।

रामचरित को लेकर केशवदास ने 'रामचंद्रिका' की रचना की। केशवदास संस्कृत के अच्छे जानकार थे; अतएव साहित्य की विवेचना उन्होंने शास्त्रीय पद्धति से की है। 'रामचंद्रिका' में नाना प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है लेकिन उन छंदों के प्रयोग से उसकी सौंदर्य-वृद्धि नहीं हो पाई है। इसमें छंद और अलंकार ही प्रधान हो उठे हैं। संबंध-निर्वाह नहीं हो पाया है। कथा का प्रवाह अवरुद्ध भा है और मार्मिक स्थलों का उसमें अभाव है।

सगुण-मार्गी कृष्णाश्रयी शाखा के अतर्गत कई सुप्रसिद्ध भक्त कवि हुए हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि यह शाखा महाप्रभु वल्लभाचार्य की विचारधारा से प्रभावित है। कहा गया है कि सूरदास उन्हीं के शिष्य थे। कहा जाता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के संपर्क में आने से पहले भी सूरदास शिष्य बनाया करते थे और भगवद्भजन किया करते थे। उस समय के उनके भजनों में लीला का स्थान नहीं था। उनमें दैन्य का स्वर ही प्रधान था। महाप्रभु ने ही उन्हें लीला-गान करने का उपदेश दिया। कहते हैं कि सूरदास ने महाप्रभु को दो भजन गाकर सुनाए, जिनमें एक

था “प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ” और दूसरा था “हौं हरि सब पतितन को नायक” । इन भजनों को सुन कर महाप्रभु ने उन्हें डाँटा और कहा— “मूर हूँ कै ऐसे धिधियात काहे को हौ, कछु भगवत् लीला वर्णन करि ।” मूरदास ने जब बतलाया कि वे उससे अपरिचित हैं तब वल्लभाचार्य ने भागवत के दशम स्कंध में उनका परिचय कराया । इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य से मूरदास को लीला-गान की प्रेरणा मिली ।

मूरदास ने लीला-गान में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही सामने रखा । राधा और कृष्ण के प्रेम का गान कर इन्होंने अपने को धन्य माना । इस प्रेमलोक में वास करते हुए उन्होंने अपनी चरम भक्ति को सार्थक किया । इसी प्रेमलीला में तन्मय रहते हुए उन्होंने गान किया । उन्हें समाज के मुधार अथवा किसी ज्ञान या मत के प्रचार की चिन्ता नहीं थी । उनमें किसी प्रकार की कटुता की भी झलक नहीं मिलती । उनका हृदय बालक की तरह निश्छल और सरल था । बाल-स्वभाव के उनके वर्णन बेजोड़ हैं । माता, पिता और पुत्र के प्रेम का चित्रण उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से किया है । उनके अपूर्व ग्रंथ ‘मूरसागर’ में भागवत के दशम स्कंध को कथा ली गई है । उसके पद अत्यंत मधुर और रसमग्न कर देने वाले हैं । इस ग्रंथ में कृष्ण की भिन्न-भिन्न लीलाओं का वर्णन है । गोप-गोपियों, यशोदा-नंद, राधा सभी के प्रेम की भिन्न-भिन्न दशाओं के वर्णन जैसे पाठक को अभिभूत कर देते हैं । भक्त लोग मूरदास को उद्धव का अवतार मानते हैं । इस से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों में मूरदास का क्या स्थान है ।

कृष्णाश्रयी शाखा के भक्त कवियों में नंददास का भी स्थान महत्व का है । ये शास्त्रज्ञ थे । भक्ति के सिद्धांतों का इन्होंने शास्त्रीय अध्ययन किया था । उनकी रचनाओं में उनके इस अध्ययन की छाप स्पष्ट है । नंददास की भाषा परिमार्जित और प्रौढ़ है । उनकी उक्तियों में युक्ति और तर्क का सहारा लिया गया है । मूरदास की तरह इन्होंने भी ‘भ्रमरगीत’ लिखा है । मूरदास के ‘भ्रमरगीत’ की गोपियाँ बड़े सरल ढंग

से उद्धव की बातों का जवाब देती है और उनकी इस सरलता में एक अद्भुत माधुर्य है। वे तर्क का सहारा नहीं लेती। उनकी उक्तियों में मानो सूरदास के हृदय की सहज, सरल अनुभूति प्रकट हुई है। लेकिन नंददास की गोपियाँ इतनी सरलता से उद्धव की उक्तियों को नहीं लेती। उनके तर्क का जवाब वे तर्क से देनी हैं। 'भ्रमरगीत' के द्वारा सूरदास और नंददास ने सगुणोपासना का निरूपण किया है। 'भ्रमरगीत' की उक्तियाँ बड़ी अनूठी और रोचक हैं। नंददास उच्च कोटि के सहृदय भक्त थे।

मीराबाई और रसखान भी इसी परंपरा के हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से भक्त कवि हो गए हैं जिनके उपास्य कृष्ण हैं। कृष्णदाम, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीनस्वामी आदि ने अपनी सुंदर और सरस रचनाओं में कृष्ण-भक्ति का परिचय दिया है। हिन्दी साहित्य में मीराबाई और रसखान की रचानाएँ अत्यंत लोकप्रिय हैं। विद्वानों का अनुमान है कि वे ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वर्तमान थी। उनकी उपासना 'माधुर्य' भाव की थी। उनके पदों में आत्मसमर्पण का भाव सर्वत्र देखने को मिलता है। वे भगवान् कृष्ण की आराधना प्रियतम के रूप में करती थीं। उनके पद राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं। ब्रजभाषा में भी इनके पद हैं। निर्गुण मार्ग के इनके कुछ भजन भी मिलते हैं। गिरिधर नागर के लिए इनकी जो पीर है वह सहृदय का अभिभूत कर देती है।

रसखान का जन्म संभवतः ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुआ था। वे पठान थे। उन्होंने अपने को शाही खानदान का कहा है। इनकी भक्ति मधुर भावना की है। इनके सरस पद बहुत अधिक तो नहीं हैं फिर भी वे मर्मस्पर्शी हैं। प्रेम के सुंदर उद्गारों वाले मयों में अत्यंत लोकप्रिय हुए। इनकी रचनाओं में इनके अनन्य प्रेम, सहज विश्वास और आत्मसमर्पण का सहज रूप देखने को मिलता है। रसखान नाम के दो मुसलमान भक्त कवि हुए हैं। दोनों में यही अधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने गोसाईं बिट्टलनाथ जी से दीक्षा ली थी। दूसरे सैयद इब्राहीम पिहानी वाले थे। वे इनके जैसे लोकप्रिय नहीं हुए।

अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम' भी उच्च कोटि के कवि हो गए हैं। ये बादशाह अकबर के अभिभावक वरम खाँ के पुत्र थे। इनकी रचनाओं से इनकी सरसता का पता चलता है। रहीम संस्कृत, फारसी, आरबी आदि के अच्छे जानकार थे। ये अत्यंत सहृदय और उदार थे। इनमें धार्मिक सहिष्णुता पूरी मात्रा में थी। रहीम के दोहे अत्यंत सुपरिचित हैं। कहते हैं कि इन में प्रभावित होकर तुलसीदास जी ने 'बरवै रामायण' की रचना की थी। वह कल्पना की उड़ान भरने वाले नहीं थे। जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से उनकी रचनाएँ समृद्ध हैं। भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। ब्रज और अवधी दोनों काव्य-भाषाओं का उन्होंने सुंदर उपयोग किया है। दोहे और बरवै के साथ साथ उनके कवित्त, मवैये और सोरठे भी उपलब्ध हैं।

प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा हिन्दी साहित्य का एक विशिष्ट अंग है। प्रेमाख्यानक काव्य धारा को सूफी कवियों ने अत्यधिक समृद्ध किया। पहले से आती हुई प्रेम-कथाओं का उपयोग इन सूफी साधकों ने उस प्रेम-तत्त्व को लोकप्रिय बनाने के लिए किया जो उनकी दृष्टि में ईश्वर से मिलानेवाला है। तत्कालीन समाज में जो कहानियाँ प्रचलित थी उनके उपयोग द्वारा सूफी कवि जनता में अपनी चिन्ताधारा और आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्रचार करने में बहुत सफल हुए। इन काव्यों में लौकिक प्रेम के रूप में आध्यात्मिक प्रेम का आभास देने का प्रयत्न कवि करता है।

सूफी कवि प्रेम के द्वारा उस परम प्रियतम को पाने का प्रयत्न करता है। उस प्रेम की पीर को वह अपना संबल मानता है। विरह की वेदना उसका मार्ग प्रशस्त करती है। उस प्रेम को पाने के लिए वह अपने आपको मिटा देता है। एक बार जिसे उस परम प्रियतम के सौंदर्य का आभास मिल गया वह उसे पाने के लिये व्याकुल हो उठता है। प्रेम के सहारे वह अपने आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होता है और नाना विघ्न-बाधाओं का सामना करता हुआ आगे की ओर बढ़ता है। उसके रास्ते में उस परम

प्रियतम का प्रेम और उसका अनुग्रह उसे आगे बढ़ने में मदद पहुँचाने है। सूफी काव्य में ईश्वर को प्रेमिका के रूप में चित्रित करने है।

ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध सूफी साधक ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आगमन से भारतवर्ष में सूफी-संप्रदाय का अत्यधिक प्रसार हुआ। वे अत्यंत प्रभावशाली थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन के आने के बहुत पहले से ही सूफी साधकों का इस देश में आना-जाना शुरू हो गया था लेकिन सूफी-संप्रदाय का संगठित रूप उनके आगमन के बाद ही यहाँ देखने को मिलता है। उनके वाद और भी बहुत से साधक आए। इन सूफी साधकों में कट्टरता नहीं थी। उनका दृष्टिकोण अत्यंत उदार था। साथ ही उनके चमत्कार की कहानियों का भी लोगों में बहुत प्रचार था। इन सूफी साधकों के प्रति हिन्दू और मुसलमान दोनों में समान रूप से आदर का भाव था। सूफियों का सादा जीवन और उनका प्रेम तत्त्व लोगों को उनकी ओर आकृष्ट करता था।

सूफी कवियों में कुतबन, मंझन, जायसी आदि सुप्रसिद्ध हैं। कुतबन ने 'मृगावती', मंझन ने 'मधुमालती', जायसी ने 'पद्मावत' नामक प्रेम-काव्य लिखे। जायसी का 'पद्मावत' अधिक जनप्रिय है। जायसी ने पद्मावती को भगवान् का प्रतीक माना है। जायसी ने शेरशाह के समय में पद्मावत को पूरा किया।

ईसवी सन् की पंद्रहवीं शताब्दी में लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक का साहित्य भक्ति से ओतप्रोत है। भक्ति का प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। लेकिन धीरे-धीरे यह प्रभाव क्षीण हो रहा था और उसके स्थान पर एक दूसरी वस्तु प्रभाव-विस्तार करती जा रही थी। लौकिक रस की शृंगार प्रधान कविताओं ने भक्ति-साहित्य का स्थान ले लिया। पहले के भक्त कवि राधा-कृष्ण, गोप-गोपियों की लीला से जैसी प्रेरणा पाते थे और जिस अलौकिक रस का अनुभव करते थे वह अब नहीं रहा। 'रीति काल' के कवि राधा और कृष्ण का नाम तो अवश्य ले लेते हैं लेकिन उनकी कविता में ऐहिकतापरक शृंगार रस का ही प्राधान्य रहा। अलंकार, रस और नायिका-भेद की ओर ही इस काल के कवियों का ध्यान खिंच गया।

अलंकार और रस की चर्चा ये कवि करते रहे लेकिन उनकी सूक्ष्म विवेचना से विरत रहे। लक्षण-ग्रंथ लिखने का प्रचलन इस काल में अत्यधिक हो गया। इन ग्रंथों में शृंगार-परक सरस उदाहरणों के द्वारा मनोविनोद का साधन जुटाना ही कवियों का एक मात्र उद्देश्य रह गया था।

रीति काल

इस काल में सर्वत्र ह्रास के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। मुगलों का साम्राज्य धीरे-धीरे बिखर रहा था। गृह-फ़लह के कारण शासन निर्बल होता गया। मुगल-शासन के अन्तिम दिनों में विलासिता के वातावरण ने समस्त देश को आक्रांत कर दिया। छोटे-छोटे सरदारों ने भी मुगल दरबार से प्रेरणा ग्रहण की। राजाओं का जीवन अकर्मण्यता से परिपूर्ण हो गया। विलासिता के सिवा उनके लिये जैसे और कुछ नहीं रह गया। कवियों का काम इन राजाओं का मनोविनोद था। इन राजाओं का प्रश्रय पाकर शृंगार के वर्णन में कवियों ने चरम अश्लीलता का प्रदर्शन किया। रीति कालीन कविता ने लोक-जीवन से प्रेरणा नहीं ग्रहण की और न लोक-चित्त पर संपूर्ण अधिकार ही कर सकी। राजा-महाराजाओं की रुचि ही प्रधान वस्तु हो उठी थी।

रीति काल के प्रमुख कवियों में चिंतामणि, मतिराम, भूषण बिहारी, देव, पद्माकर आदि हैं। चिंतामणि, मतिराम और भूषण भाई थे। मतिराम इस काल के मुख्य कवियों में हैं। इनकी कविता बड़ी सरस और स्वाभाविक है। भाषा पर भी इनका पूरा अधिकार था। इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं है। उसका एक सहज प्रवाह है। भूषण ने वीर-रस की कविताएँ लिखी हैं। ये महाराज शिवाजी के आश्रित थे। भूषण ने शिवाजी और महाराज छत्रसाल की वीरता के वर्णन किए हैं। देव भी प्रतिभाशाली कवि थे।

रीतिकालीन कवियों में पद्माकर का स्थान श्रेष्ठ है। ये बहुत लोकप्रिय कवि हुए। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था। भाषा के सहज प्रवाह में इनकी कविताओं में एक अद्भुत सौन्दर्य आ गया

है। इन कविताओं में ऐसी रमणीयता है कि लोग अधिक-से-अधिक उनकी ओर आकृष्ट हुए। उनकी भाव-योजना में किसी प्रकार का बनावटी-पन नहीं है। ये तैलंग ब्राह्मण थे और अच्छे पंडित थे। रीतिकालीन कवियों में बिहारी के समान इनकी भी प्रसिद्धि हुई।

रीतिकालीन कवियों में बिहारी सबसे अधिक लोकप्रिय थे। इनका जन्म संभवतः १६०३ ई० के लगभग हुआ था। इनकी मृत्यु सन् १६६३ ई० में हुई। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह के दरबार में रहते थे। उस दरबार में इनका बड़ा मान था। इनकी 'सतसई' का हिन्दी जगत् में बहुत ही मान हुआ। बिहारी की कीर्ति का आधार यही ग्रंथ है। रीति ग्रंथों की उनकी अच्छी जानकारी थी। इनके दोहे वड़े ही सरस और हृदय-ग्राही हैं। मुक्तक कविता के सभी गुणों का समावेश इन दोहों में है। अर्थ की रमणीयता का परिचय बिहारी के दोहों में सर्वत्र मिलता है। प्रलंकारों की योजना में भी इन्होंने खूब कौशल दिखलाया है। इनके नीति संबंधी भी दोहे मिलते हैं।

रीति काल की परम्परा में और भी अन्य बहुत से कवि हुए हैं। उनमें णालकवि, आलम, मुबारक, घन-आनंद, बोधा ठाकुर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस काल की नीति-विषयक रचनाएँ भी मिलती हैं। वृंद के दोहे और गिरिधर कविराय की कुंडलिया इस क्षेत्र में सुप्रसिद्ध हैं। नीति-विषयक साहित्य इस काल में बहुत अधिक लिखा गया। लगता है जैसे रीतिकालीन परम्परा से क्रमशः जन-चिन्तन ऊँच उठा हो। इस काल के साहित्य में किसी ऊँचे आदर्श के दर्शन नहीं होते, और न जीवन का स्पंदन ही। संपूर्ण समाज मृतप्राय हो गया था, साहित्य उसे प्रतिबिम्बित कर रहा था।

आधुनिक युग का प्रादुर्भाव

आधुनिक काल का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ माना जाता है। नाना प्रकार की शक्तियाँ संपूर्ण देश में क्रियाशील थीं जो देश को एक नया मोड़ दे रहीं थीं। सन् १७५७ ई० के प्लासी युद्ध

से लेकर सन् १८५७ ई० के स्वतंत्रता संग्राम तक सम्पूर्ण देश में अज्ञानि और अराजकता बनी रही। केन्द्रीय शक्ति नाममात्र को रह गई थी। देश के भिन्न-भिन्न-भागों में छोटे-छोटे राज्य कायम हो गए थे। आपस में लड़ना ही उनका काम रह गया था। अँग्रेजों ने ऐसे ही वातावरण में अपने साम्राज्य की नींव इस देश में डाली। अँग्रेजों के साथ इस देश का संपर्क एक बड़े महत्त्व की घटना है। हिन्दू समाज की स्थिति भी पहले ही जैसी बनी रही। सामाजिक कट्टरता और छुआछूत का भाव ज्यों का त्यों बना रहा।

अँग्रेजों के संपर्क से भारतीय समाज को पाश्चात्य विचारधारा में परिचय प्राप्त हुआ। इस देश में भी प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहास के अध्ययन की ओर यूरोपीय पंडितों ने ध्यान दिया। पुरातत्त्व विभाग की स्थापना हुई। देश के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ना शुरू हुआ। इसका फल यह हुआ कि इस देश के लोगों का ध्यान अपने पूर्व गौरव की ओर आकृष्ट हुआ। देश में पुनर्जीवन का संचार होने लगा। ब्राह्म-समाज और आर्य समाज की स्थापना इस जागृति का फल था।

दिल्ली में जब मुगल दरबार का ह्रास हुआ तब दिल्ली के व्यवसायी तथा अन्य गुणीजन देश के पूर्वी प्रदेशों की ओर आने लगे। अपने साथ वे दिल्ली की शिष्ट भाषा भी लेते आए। यही खड़ीबोली है जिसका व्यवहार आजकल साहित्य में हो रहा है। यह भाषा कई कारणों से दिल्ली दरबार में शिष्ट मानी जाने लगी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी गद्य को रूप देने की चेष्टा की गई और वास्तव में वही से हिन्दी गद्य का मूलपात हुआ। आधुनिक साहित्य के प्रसार में आज के वैज्ञानिक साधनों का बहुत बड़ा हाथ है। प्रेस, रेल, तार आदि ने यह संभव कर दिया कि किसी साहित्यिक की रचना अधिक से अधिक लोगों के पास पहुँच सके। अब कवियों को किसी आश्रयदाता की ओर नहीं देखना पड़ता। आधुनिक शिक्षा ने भी पहले की संकीर्णताओं पर गहरा प्रहार किया। लोगों की दृष्टिभंगी बिल्कुल बदल गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिन्दी कविता की परम्परा वही बनी रही जो रीतिकाल तक थी। भक्ति, शृंगार तथा नीति विषयक रचनाएँ अभी भी साहित्य-क्षेत्र को सुशोभित कर रही थी। कविता की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य के लिये एक बड़े सौभाग्य की बात हुई। थोड़ी ही उम्र में उन्होंने अद्भुत काम किया। उनकी प्रतिभा, उनकी सहृदयता और उनके आदर्श ने भाषा और साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। कविता में जिस भाषा का प्रयोग हो रहा था उसका उन्होंने संस्कार किया। ब्रजभाषा के ऐसे बहुत से शब्द उस समय कविता में प्रयुक्त हो रहे थे जिनका प्रयोग बोलचाल की भाषा में कई सौ वर्ष पहले होता था। शब्दों को तोड़-मरोड़ कर रखने की प्रवृत्ति को भी उन्होंने यथासाध्य दूर करने की चेष्टा की। इसके सिवा रीतिकालीन काव्य-परंपरा के दलदल से हिन्दी कविता को निकाल कर उन्होंने नये क्षेत्रों की ओर मोड़ दिया। देश-प्रेम, समाज-सुधार, मानवभाषा का उद्धार आदि की ओर उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया। राष्ट्रियता की भावना का प्रवेश इस देश में भी हो गया था। अब लोगों ने इसी दृष्टि में सभी वस्तुओं की ओर देखना शुरू किया।

भारतेन्दु काल में गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई लेकिन पद्य के लिये ब्रजभाषा का ही उपयोग होता रहा। भारतेन्दु काल के लेखकों ने तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल नये नये विषयों की ओर ध्यान दिया। लेकिन प्रकृति-वर्णन आदि बहुत सी बातों में परंपरा-पालन की ही प्रवृत्ति रही। भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् भाषा के संबंध में नाना प्रकार के विचार उठने लगे। धीरे-धीरे पद्य में भी खड़ी बोली ने ब्रजभाषा का स्थान ले लिया तथा कविता के क्षेत्र में नये नये प्रयोग होने लगे।

कविता के नये रूप का उदय

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक बीस वर्षों में हिन्दी कविता का नया रूप प्रकट होता है। हिन्दी-कविता के नवीन युग को ले आने वाला यह काल

है। ब्रजभाषा को छोड़कर कवियों ने खड़ी बोली का प्रयोग करना शुरू किया। श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय, जयशंकर 'प्रसाद', आदि ने ब्रजभाषा में ही कविता लिखना शुरू किया था लेकिन बाद में इन लोगों ने खड़ी बोली में ही काव्य रचना की। वेमे मन्यनारायण, जगन्नाथदाम 'गन्ताकर' आदि ने ब्रजभाषा को नहीं छोड़ा।

अयोध्या सिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त की खड़ीबोली की कविताओं ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। 'हरिऔध' जी का 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य कहा जा सकता है। इसमें संस्कृत वृत्तों का सहारा लिया गया है लेकिन यह वक्तव्य-वस्तु की दृष्टि से आधुनिक है। इसमें कृष्ण की जननायक और राधा को सेवापरायण महिला के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें उस युग की चिन्ताधारा का अनुमान किया जा सकता है। भाषा पर 'हरिऔध' जी का अच्छा अधिकार था।

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' और 'जयद्रथवध' बहुत लोकप्रिय हुए। 'भारत भारती' ने राष्ट्र प्रेम की भावना जगाने में बहुत कुछ मदद पहुँचाई। इसका लोगों में बहुत समादर हुआ। देश के प्राचीन गौरव और तत्कालीन हीनावस्था को चित्रित कर उन्होंने लोकचित्त को एक नवीन प्रेरणा दी। गुप्त जी ने कई प्रबंध-काव्य लिखे हैं, जिनमें रंग मे भग, जयद्रथवध, गुरुकुल, पंचवटी, सिद्धराज आदि उल्लेखनीय हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' लिखने के बाद उन्होंने और भी ख्याति अर्जन की। भारतीय परम्परा के अनुकूल मर्यादा-पालन की ओर उनकी दृष्टि बराबर रही है। उस काल के अन्य कवियों में नाथूराम शंकर शर्मा, श्रीधर पाठक, राम-नरेश त्रिपाठी, लाला भगवान दीन, रूपनारायण पांडेय आदि विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इन कवियों में प्रकृति-प्रेम, वैयक्तिक स्वातंत्र्य 'स्वच्छंद प्रेम' का आभास मिलने लगता है। स्वच्छंदतावादी, वैयक्तिकता प्रधान काव्य का मार्ग इन्होंने प्रस्तुत किया। हिन्दी के 'छायावाद' युग के लिए इन्होंने भूमि तैयार की।

हिन्दी कविता ने जब नया रूप लेना शुरू किया था उसी समय

(१९१४ ई०) प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। इस युद्ध ने संसार में बहुत से परिवर्तन ला दिए। भारतवर्ष में महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता का आंदोलन चला। देश में एक नई चेतना आई। नई शिक्षा से पुराने संस्कार दूर हो रहे थे। राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में नई विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ। नवीन जागरण और एक नये आत्म-विश्वास की लहर संपूर्ण देश में दिखाई पड़ी। नवीन मास्कृतिक चेतना ने देश के मन-प्राण को एक नई ज्योति में आलोकित किया। साहित्य में, नाना रूपों में इस नवीन युग ने दर्शन दिए।

स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति, मानवतावादी दृष्टि और वैयक्तिकता का प्राधान्य, छायावादी कही जाने वाली रचनाओं की विशेषता है। इसके पहले (सन् १९०० से-१९२० ई०) कविता में विषय-वस्तु की प्रधानता थी। बाद में चलकर कवि की अपनी दृष्टि ही प्रधान बन गई। अपने सुख-दुःख, अपने गगन-विगग के प्रति कवि सचेतन हो गया। और कविता में जिन वस्तुओं का वह चित्रण करता था वे उनमें अनुरजित होकर ही प्रकट होने लगी। अपने गगन-विगग के आलोक में ही सब कुछ को देखने का वह आदी हो गया।

इस प्रकार की कविता के लिए खड़ीबोली तब तक भी सक्षम नहीं हो पाई थी। उस काल के कवियों ने भाषा को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया। नये ढंग में अपने उद्गारों को प्रकट करना प्रारम्भ हुआ। शुरू शुरू में वह भाषा अपरिचित, अद्भुत मालूम पड़ी, दुर्बोध तो थी ही इस भाषा को और इस प्रकार की कविताओं को लेकर नाना प्रकार के व्यंग किए गए। लेकिन, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा ने इस दिशा में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। इन कवियों ने भाषा, भाव, छंद, शिल्प, विधान सब में सामंजस्य लाने की चेष्टा की। इस काल में प्रगीत मुक्तकों का अधिक प्रचलन हुआ। इनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्राधान्य होता है। प्रबन्ध काव्य में काव्य की रचना का आधार प्राचीन कथावस्तु होती है लेकिन मुक्तक काव्य में एक खण्ड दृश्य

को इस ढंग से सामने लाया जाता है कि पाठक चमत्कृत हो उठता है। आधुनिक प्रगीत मुक्तकों में व्यक्तिगत अनुभूतियों की प्रधानता है। ये प्रगीत मुक्तक पाठक के चित्त के भीतर आनंद का संचार करते हैं। और उसके हृदय के भीतर वासना रूप में स्थित भावों को उद्बुद्ध कर रस का संचार करते हैं।

‘छायावाद’ एक सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था। व्यक्तिगत अनुभूति और चितन की प्रधानता छायावादी रचनाओं में है लेकिन मानवतावादी दृष्टि को उनमें ओझल नहीं होने दिया गया। छायावादी कवि काव्य की रूढ़ियों में बंध नहीं रहे। जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण उन्होंने अपनाया। नये मूल्यों को अंगीकार करने की क्षमता उन्होंने दिखलाई। आध्यात्मिकता की ओर भी कम या अधिक उन कवियों का झुकाव हुआ। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति भी इन कवियों में विद्रोह की भावना है। ‘रहस्यवाद’ और ‘छायावाद’ को बहुत बार एक समझ लेने की भूल की जानी रही है। रहस्यवादी वास्तव में एक चिंतन-प्रिय में तादान्म्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। वह उस प्रिय की लीला को देखकर मुग्ध होता रहता है। सर्वत्र वह उस प्रिय की सौंदर्यमयी सत्ता का अनुभव करता रहता है। उसका प्रेम पाने के लिए वह व्याकुल बना हुआ रहता है। रहस्यवाद हृदय की वस्तु है मस्तिष्क की नहीं। चितन-मनन के द्वारा उसे समझने की चेष्टा की जा सकती है लेकिन बिना अंतर की पीड़ा और व्याकुलता की अनुभूति के वह नहीं जाना जा सकता। मच्चे अर्थ में इस रहस्यवाद के दर्शन महादेवी वर्मा की कविताओं में ही होते हैं। प्रसाद, पन्त, निराला आदि की कविताओं में भी उस परोक्ष सत्ता की ओर सकेत बारबार किया गया है। इन तीनों में भी ‘प्रसाद’ ने चितन-मनन द्वारा उस रहस्य को समझने की चेष्टा की है।

पंन की कविताओं में प्रकृति और मानव सौंदर्य के प्रति औत्सुक्य और कुतूहल के भाव दीख पड़ते हैं। प्रकृति के सुंदर रूपों को देखकर जैसे कवि का हृदय आनन्द से भर उठता है। ‘वीणा’ और ‘पल्लव’ में उनके

प्रकृति-प्रेम का पूरा परिचय मिलता है। उत्तरोत्तर कवि में चिंतन की वृद्धि होती गई है और जीवन-क्षेत्र में वह अधिक से अधिक प्रवेश करता गया है। समाज की विषमता आदि से प्रेरित होकर पत ने जो कुछ लिखा है उसमें वे समाजवाद के सिद्धांत से परिचालित हुए हैं। बाद की उनकी रचनाएँ अरविन्द के दर्शन से प्रभावित हैं। 'निराला' प्राग्भ से ही विद्रोही कवि रहे हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। छंद के बंधनों के प्रति उन्होंने जबरदस्त विद्रोह किया। उनकी कविताओं में दुरुहता है। छंदों की नाई सामाजिक बंधनों का भी वे विद्रोही की दृष्टि में ही देखते हैं। सामाजिक व्यवस्था के वैधिध्य की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। श्रमजीवियों के प्रति उनके मन में महती महानुभूति है।

इनके अतिरिक्त आज के आधुनिक कवियों में अपनी अपनी विशेषताएँ लिए हुए अनेक कवि हैं जो अपनी रचनाओं में हिन्दी के काव्य साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्वच्छंदतावादी सिद्ध कवि हैं। राजनीति में आकण्ठ निमग्न रहते हुए भी कल्पना की उड़ान भरने में पीछे नहीं रहते। भगवतीचरण वर्मा भी मस्ती के गान गाने वाले कवियों में अनुष्ठे हैं। इसी प्रकार में 'बच्चन' अपना 'हालावाद' लेकर हिन्दी कविता के क्षेत्र में आए। 'बच्चन' अपनी बात बहुत ही सहज ढंग में, सहज भाषा में कह जाते हैं। मौलिक और पण्डित शैली के वे स्वामी हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' भी अत्यंत समर्थ कवि हैं। जीवन और जीवन के प्रति 'दिनकर' का आकर्षण पूर्ण मात्रा में उनकी कविताओं में प्रकट हुआ है। 'दिनकर' ने समाज की विषमताओं को देखा है, उनका मन विद्रोह कर उठता है। कवि के मन के भीतर समाज के मंगल की कामना है इसलिए क्षण भर के लिए अगर वह इस जगत् की विषम परिस्थितियों से ऊब उठता है तो भी इसे छोड़ नहीं पाता।

कबीरदास

[जन्म.....? मृत्यु १५१८ ई०]

साखी

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ ।
धरती सब कागद करौं, हरि-गुन लिखा न जाइ ॥१॥
लाली मेरे लाल की, जिन देखों तित लाल ।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल ॥२॥
तेरा साँई तुज्झ में, ज्यों पुटुपन में बाम ।
कसूरी का मिरग ज्यों, फिरि-फिरि ढूँढ़ें घाम ॥३॥
जंत्र-मंत्र सब भूठ है, मन भरमौ जग कोय ।
सार सबद जाने बिना, कागा हंस न होय ॥४॥
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि ।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि ॥५॥
मन परतीत न प्रेमरस, ना इस तन में दंग ।
ना जानौं वा पीव सौ, कैसे रहसी रंग ॥६॥
काम-क्रोध, मद-लोभ की, जबलौं मन में खान ।
तब लौं पंडित-मूर्खौ, कबिरा एक समान ॥७॥
जात न पूछौ साधु की, पूछ लीजिए जान ।
मोल करौ तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥८॥
बाजन दे बाजंतरी, कलि ककही जनि छेड़ ॥९॥
तुम्हे बिरानी क्या परी, अपनी आप निबेर ॥१॥

हाड़ बड़ा हरि भजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देहि ।
 अकल बड़ी उपकार कर, जीवन का फल येहि ॥१०॥
 मारग चलते जो गिरै, वाको नाही दोस ।
 कह कबीर बैठा रहे, ता सिर करडे कोस ^{यसिर} ॥११॥
 मनके मते न चालिये, मनके मते अनेक ।
 जो मन पर असवार है, सो साधू कोई एक ॥१२॥
 करु बहियाँ बल आपनी, छाँड़ बिरानी आस ।
 जाके आँगन नदी है, सो कत मरै पियाम ॥१३॥
 एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।
 जो तू सेवै मूल को, फूलै-फलं अघाय ॥१४॥
 करा तबहि न चेतिया, जब ढिग लागी बेर ।
 अब के चेतै क्या भया, काँटन लीन्हो घेर ॥१५॥
 जाका गुर भी आँधरा, चेला खरा निरंध ।
 अंधे-अंधा ठेलिया, दोनों कूप परंत ॥१६॥
 सतगुर हम सौं रीझकर, एक कहा परसंग ।
 बादल बरसा प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥१७॥
 एता माता प्रेम का, पीया प्रेम अघाय ।
 मतवाला दीदार का, माँगै प्रेम बलाय ॥१८॥
 कबीर हँसना दूर करि, करि रोवण हैं चित्त ।
 बिनु रोया क्यों पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥१९॥
 पीया चाहै प्रेम-रस, राखा चाहै मान ।
 एक म्यान में दो खड़ग, देखा सुना न कान ॥२०॥
 सभी रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय ।
 रंचक घट में संचरै, सब तन कंचन होय ॥२१॥

अगिनि आँच सहना सुगम, सुगम खड़ग की धार ।
 नेह निभावन एक रस, महा-कठिन व्यौहार ॥२२॥
 हरि से जनि तू हेत कर, कर हरिजन से हेत ।
 माल-मुलुक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत ॥२३॥
 साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय ।
 मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥२४॥
 सिर राखे सिर जात है, सिर काट सिर होय ॥२५॥
 जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा जोय ॥२५॥
 निन्दक नियरै राखिए, आँगन कुटी छायाय ।
 बिनु पानी बिनु साबना, निर्मल करै सुभाय ॥२६॥
 हरि रस पीया जानिए, कबहुँ न जाय खुमार ।
 भै मंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार ॥२७॥
 माया दीपक, नर, पतंग, भ्रमि-भ्रमि इवें पड़त ।
 कह कबीर गुरु ज्ञान त, एक-आध उबरंत ॥२८॥
 काय-कमंडल भर लिया, उज्जल निर्मल नीर ।
 तन, मन, जोबन भर पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥२९॥
 साईं सेती चोरियाँ, चोराँ सेती गुज्ज ॥३०॥
 जानेगा रे जीवना, मार पड़ेगी तुज्ज ॥३०॥
 साखी आँखी ज्ञान की, समुभि देखु मन माहि ।
 बिन साखी संसार को, भगरा छूटत नाहि ॥३१॥
 सहजै-सहजै सब गए, सुते-बिते-कामिनि-काम ॥३२॥
 अंकमेक है मिलि रह्यो, दास कबीरा राम ॥३२॥
 सतगुरु बपुरा क्या करे, जो सिष माहीं चूक ।
 भावै त्यों परबाधि लै, ज्यों बंसि बजाई फूँक ॥३३॥

• सारासूरा बहु मिले, घाइल मिले न कोय ।
 घाइल ही घाइल मिलौ, तब रामभगति हृद होय ॥३४॥
 कबीर सब जग हंडिया, मंदि^{दिल}ल कंधि चढ़ाइ । ^{संयम}
 हरि बिन अपना कोइ नहीं, देखा ठोंक बजाइ ॥३५॥
 जल में बसे कमोदनी, चंदा बसे अकाम ।
 जो जाही का भावता, सो ताही के पाम ॥३६॥
 भाग बिना नहिं पाइए, प्रेम प्रीति का भक्त ।
 बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति कर्यौ सब जक्त ॥३७॥
 मैं अबला पिउ-पिउ कहूँ, निरगुन मेरौ पीव ।
 सून्य सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव ॥३८॥
 हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ । ^{अस}
 अब जारौं घर तासु का, जो चलै हमारे साथ ॥३९॥
 प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय ।
 राजा-परजा जिहि रुचै, सीम देय लै जाय ॥४०॥
 साईं संत न पाइए, वाताँ मिले न कोय ।
 कबीर सौदा राम सोँ, मिर बिन कटे न होय ॥४१॥

सबद

(१)

अरे इन दोउन राह न पाई ।

हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई ।
 बेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिन्दुआई ॥

मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई ।
खाला करी बेटी ब्याहैं घरहि में करें सगाई ॥
बाहर से एक मुरदा लाये धोय धाय चढ़वाई ।
मत्र मखियाँ मिल जेवन बैठीं घर भर करै बड़ाई ॥
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥

(२)

मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपरा ।

आसन मारि मंदिर में बैठे, नाम छ़ाड़ि पूजन लागे पथरा ॥
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलैं, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैलैं बकरा ।
जङ्गल जाय जोगी धुनिया रमौलैं, काम जराय जोगी बनि गैलैं हिजरा ॥
मथवा मुड़ाय जोगी कपड़ा रँगौलैं, गीता बाँचि कै होइ गैलैं लवरा ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवजवाँ वाँधल जैबे पकरा ॥

(३)

घूँघट का पट खोल रे, तोहें पीव मिलेंगे ।

घट-घट में वह साई रमता, कटुक वचन मत बोल रे ।
धन जोवन को गरव न कीजै, भूठा पंचरंग चोल रे ॥
सुन्न महल में दियना बारि ले, आसन सों मत डोल रे ।
जोग जुगुत सों रङ्ग महल में, पयि पायो अनमोल रे ।
कहैं कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ॥

(४)

मेरा तेरा मनुवाँ, कैसे एक होइ रे ।

में कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ।
में कहता सुरभावन हारी, तू राख्यो अरुभाइ रे ॥

मैं कहता तू जागत रहियो , तू रहता है सोइ रे ।
 मैं कहता निरमोही रहियो , तू जाता है मोहि रे ॥
 जुगन जुगन समभावत हारा , कहा न मानत कोइ रे ।
 तू तो रंगी , फिरै बिहङ्गी , सब धन डारा खोइ रे ॥
 सतगुरु धारा निरमल बाहै , वा में काया धोइ रे ।
 कहत कबीर सुनो भाई साधो , तब ही वैसा होइ रे ॥

(५)

भीनी भीनी बीनी चदरिया ।

काहे कै ताना काहे कै भरनी^१ , कौन तार से बीनी चदरिया ।
 इंगला पिंगला ताना भरनी , सुख मन तार से बीनी चदरिया ॥
 आठ कँवल दल चरखा डोलै , पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ।
 साईं को सियत मास^२ दस लागै , ठोक ठोक कै बीनी चदरिया ॥
 सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े , ओढ़ि क मैली कीनी चदरिया ।^३
 दास कबीर जतन से ओढ़ी , ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥

प्रश्न

- १ । कबीर के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
- २ । “हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों में प्रचलित अन्धविश्वासों की उन्होंने कड़ी आलोचना की ।” पढ़े हुए पद्यों के आधार पर इस कथन की आलोचना कीजिए ।
- ३ । “लाली.....लाल” तथा “काम.....समान” इन दोनों साखियों के भाव को स्पष्ट कीजिए ।

सूरदास

[पंद्रहवीं शताब्दी]

बालकृष्ण

सोभित कर नवनीत लिए ।

घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किए ॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए ।
लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन मादक मर्दाहि पिए ।
कठुला कंठ, बज्र केहरि नख राजत रुचिर हिए ।
धन्य सूर, एको पल यह सुख, का मतकल्प जिए ॥

(२)

जसुमति मन अभिलाष करै ।

कब मेरो लाल घुटुरुवन रंग कब धरनी पग द्वैक धरै ॥
कब द्वै दन्त दूध के देखौं कब तुतरे मुख ब्रैन भरै ।
कब नन्दहि कहि बाबा बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै ॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों भगरै ।
कब धौं तनक तनक कछु खैहे अपने कर सों मुखहि भरै ॥
कब हंसि बात कहैगो मोसों छवि पेखत दुख दूरि करै ।
स्याम अकेले आँगन छाँड़े आपु गई कछु काज घरै ॥
यहि अन्तर अँधवाइ उठी इक गरजत गगन सहित घहरै ।
सूरदास ब्रज लोग सुनत ध्वनि जो जहँ जहँ सब अतिहि डरै ॥

(३)

सिखवत चलन जसोदा मैया ।

अरबराय कर पानि गहावति जगमगाय धरनी धरि पैया ॥

कबहुँक सुन्दर वदन बिलोकति उर अनंद भरि लेति बलैया ।
 कबहुँक बल को टेरि बुलावति इहि आँगन खेलौ दोउ भैया ॥
 कबहुँक कुलदेवता मनावति चिरजीवै मेरो बाल कन्हैया ।
 सूरदास प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नँदरैया ॥

(४)

हरि अपने आपै कछु गावत ।
 तनक तनक चरनन सौं नाचत मनही मनहि रिभावत ॥
 ग्रह उचाय काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत ।
 कबहुँक बाबा नन्द बुलावत कबहुँक घर लै आवत ॥
 माखन तनक आपने कर लै तनक वदन में नावत ।
 कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लवनी लै दिखरावत ॥
 दुरि देखति जसुमति यह लीला हरष अनंद बढ़ावत ।
 सूरस्याम के बालचरित नित नित ही देखत भावन ॥

(५)

लैहों री माँ चंद चहौंगो ।
 कहा करौं जलपुट भीतर को बाहर याहि गहौंगो ॥
 यह तो झलमलान भकभोरत कैसे कै जु लहौंगो ।
 वह तो निपट निकट ही देखत बरज्यो हौं न रहौंगो ॥
 तुमरो प्रेम प्रगट मैं जान्यो बौराए न बहौंगो ।
 सूरस्याम कह कर गहि ल्याऊँ ससि तनु दाप दहौंगो ॥

(६)

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिभायो ।
 मांसों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो ॥
 कहा कहौं यहि रिसके मारे खेलन हौं नहि जात ।
 पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तात ॥

गोरे नन्द जमोदा गोरी तुम कन म्याम मरीर ।
 चुटकी दै दै हँसन ग्वाल सब मित्र दैत बलवीर ॥
 तू मोहीं को मारन सीखी दाउहि कबहुं न खीभै ।
 मोहन को मुख रिस समेत लखि जमुमति सुनि सुनि रीभै ॥
 सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत ।
 सूरस्याम मों गोधन की सौ हौं माना, तू पूत ॥

(७)

मैया मोरी, मैं नाहीं दधि खायो ।
 ख्याल परे ये मखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
 देखि तुहीं सोके पर भाजन ऊँचे पर लटकायो ।
 तुहीं निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो ॥
 मुख दधि पोंछि कहत नंदनंदन दोना पीठ दुरायो ।
 डारि साँट मुसुकाइ तबहि गहि सुन को कंठ लगायो ॥
 बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो ।
 सूरदाम प्रभु जसुमति के मुख मिव बिरंचि बौरायो ॥

मुरली

मुरली तऊ गोपालहि भावति ।
 सुन री सखी, जदपि नंदनंदहि नाना भाँति नचावति ।
 राखत एक पायँ ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति ।
 कोमल अंग आपु आग्या गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति ।
 अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नार नवावति ।
 आपुन पौढ़ि अधर-सज्या पर, कर सौ पद पलुटावति ।
 भुकुटि कुटिल फरक नामापुट हमपै कोपि कुपावति ।
 सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, अधर सुसीस डुलावति ।

भ्रमर-गीत

निरगुन कौन देस को बासी ?

मधुकर हँसि समुभाय सौँह दे बूझति साँच, न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ।
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी ॥
पावैगो पुनि कियो आपनी जो रे कहैगो गाँसी ।
सुनत मौन है रह्यो ठग्यो-सो सूर सबै मनि नामी ॥

(२)

आयौ घोष वड़ो ब्यौपारी ।

लादि खेप गुन ग्यान जोग की ब्रज में आय उतारी ॥
फाटक दै कै हाटक माँगत भोरो निपट सुधारी ।
घुरही तें खोटो खायौ है लिये फिरन सिर भारी ॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अनारी ।
अतन दूध छ्याँड़ि को पीवै खार कूप कौ बारी ॥
ऊधौ जाहु सबारै ह्याँ तैं वेगि गहरु जनि लावहु ।
मुंह माँगो पैहौ सूरज-प्रभु साहसि आनि देखावहु ॥

(३)

ऊधो मन तौ एकै आहि ।

सो तौ हरि लै संग सिधारे, जोग सिखावत काहि ॥
सुनि सठ कुटिल बचन रस लंपट, अबलनि तन धौं चाहि ।
अब काहे कौ लौन लगावत, बिरह-अनल कैं दाहि ॥
परमारथ उपचार कहत हौ, बिरह-विथा है जाहि ।
जाकौं राजरोग कफ व्यापत, दही खवावत ताहि ॥

सुन्दर स्याम सलोनी मूरति, पूरि रही हिय माहिं ।
सूर ताहि तजि निरगुन सिधुहि कौन सकै अवगाहि ॥

(४)

उपमा एक न नैन गही ।

कविजन कहत-कहत चलि आये सुधि करि करि काहू न कही ।

कह चकोर मुख-विधु बिनु जीवन, भँवर न तहँ उड़ि जात ।

हरि-मुख-कमल कोस विछुरे तें ठाले क्योँ ठहरात ॥

खंजन मनरंजन जन जो पै कबहुँ नाहि सतरात ॥

पख पसारि न उड़न मंद ह्वै समर-समीप विकात ॥

आये बधन व्याध ह्वै ऊधो, जो मृग क्योँ न पलात ।

देखत भागि बसै घन बन में, जहँ कोउ संग न जात ॥

ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे, प्रति छिन अति दुख वादत ।

सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाड़न ॥

(५)

उर में माखन चोर गड़े ।

अब कैसेहु निकसत नहि ऊधो तिरछै ह्वै जु अड़े ॥

जदपि अहीर जसोदानन्दन तदपि न जात छँड़े ।

वहाँ बने जदुवंस महाकुल हमहि न लगत बड़े ॥

को बसुदेव, देवकी है को ना जानैं औ बूझैं ।

सूरस्याम सुंदर बिनु देखे और न कोई सुझैं ॥

(६)

निसि दिन बरसत नैन हमारे ।

सदा रहति पावस ऋतु हम पै जबतें स्याम सिधारे ॥

दृग अंजन लागत नहि कबहुँ उर कपोल भए कारे ।

कंचुकि नहि सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे ॥

सूरदास प्रभु अंबु बढ्यो है गोकुल लेहु उबारे ।
कहँ लौं कहौं स्यामघन-सुन्दर बिकल होत अति भारे ॥

(७)

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी ।
कैसे रहें रूप-रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवति तब एती नहिं भूँखी ।
अब इन जोग सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी ॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पियत पतूखी ।
सूर सिकत हठि नाव चलावो ये सरिता हैं सूखी ॥

(८)

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी ।
देख्यो चाहति कमलनयन कौं, निसिदिन रहत उदासी ।
आए ऊधौ फिरि गए आँगन डारि गए गर फाँसी ।
केसरि तिलक मोतिन की माला बृन्दावन के बासी ।
काहु के मन की कोउ नहिं जानत लोगनि के मन हाँसी ।
सूरदास प्रभु तुमरे दरस को लैहौं करवट कासी ॥

(९)

प्रीति करि काहु सुख न लह्यो ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपुन प्राण दह्यो ।
अलि सुत प्रीति करी जल-सुत सौं सम्पुट माँझ गह्यो ।
सारँग प्रीति करी जु नाद सौं सन्मुख बान सह्यो ।
हम जौ प्रीति करी माधव सौं चलत न कछू कह्यो ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत नैननि नीर बह्यो ॥

(१०)

मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हरि लियौ तनक चितवनि में चपल नयन की कोर ।
पकरे हुते हृदय उर अंतर प्रेम प्रीति कें जोर ।
गए छेंड़ाइ तोरि सब बंधन, दै गए हँसनि अँकोर ।
चौकि परीं जागत निसि बीती, दूत मिल्यौ इक भौर ।
सूरदास प्रभु सरबस लूटचौ, नागर नवलकिमोर ।

(११)

ऊधौ मन माने की बात ।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल, विषकीरा विष खान ॥
जौ चकोर कां देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात ।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात ॥
ज्यौ पतंग हिन जानि आपनों, दीपक मौँ लपटान ।
सूरदास जाकौ मन जासौ, सोई नाहि सुहात ॥

(१२)

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ ।
अति कृसगात भई ये तुम बिन परम दुखारी गाइ ॥
जल समूह बरसति दोउ अँखियाँ, हूँकति लीन्हे नाऊँ ।
जहाँ जहाँ गो-दोहन कीन्ही, सूँघति सोई ठाऊँ ॥
परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं वागि मध्य तैं मीन ॥

(१३)

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंससुता की सुन्दरि कगरी, अरु कुंजन की छाँही ॥

वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक् दुहावन जाहीं ।
 ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं ॥
 यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं ।
 जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं ॥
 अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदानंद निबाहीं ।
 सूरदास प्रभु रह मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं ॥
 —(‘सूर-सागर से’)

प्रश्न

- १। ‘भ्रमर गीत’ से आप क्या समझते हैं ? सूरदास के भ्रमर गीत पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।
- २। “बालकों की विविध चेष्टाओं, उनके नाना मनोभावों और क्रीड़ाओं का चित्रण सूरदास के पदों में बड़ा ही स्वाभाविक आया है” । इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए ।
- ३। “उधौ मन माने.....ताहि मुहान” की कवि-प्रसिद्धियों का उल्लेख कीजिए ।
- ४। “निरगुन कौन.....मति नामी” तथा लैहौ री..... दाप दहौगो” पदों की व्याख्या कीजिए ।
- ५। “लट लटकनि.....पिण” तथा “अब काहे.....कै दाहि” पंक्तियों में अलंकार-निर्देश कर उनके लक्षण बतलाइए ।

तुलसीदास

[जन्म....?, मृत्यु १६२३ ई०]

बरवै-रामायण से

भाल तिलक सर, सोहत भौंह कमान ।
मुख ॥ अनुहरिया केवल चन्द समान ॥
तुलसी बंक बिलोकनि, मृदु मुसुकानि ।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि ॥
गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह ।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ॥
उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन ।
सिय रघुवर के भये उनीदे नैन ॥
जटा मुकुट कर सर धनु संग मरीच ।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच ॥
कनक सलाक, कला ससि, दीप सिखाउ ।
तारा सिय कहँ लछिमन मोहिं ब्रताउ ॥
विरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ये अँखियाँ दोउ बैरनि देहिं बुझाइ ॥
राम-सुजस कर चहुँ जुग होत प्रचार ।
असरन कहँ लखि लागत जग अँधियार ॥
~~दोष~~ ~~दरिद्र~~ ~~दुख~~ ~~हास~~ ~~दोष~~ ~~नाम~~
~~दु-दुःख~~ ~~दोष~~ ~~दोष~~ ~~दोष~~ ~~नाम~~ ॥
सकल सुमंगल दायक तुलसी राम ॥

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु ।
तहँ तहँ राम निवाहिव नाम सनेहु ॥

विनय पत्रिका से

(१)

गाइए गनपति जगबंदन । संकर-सुवन भवानी-नंदन ॥
सिद्धि सदन गजबदन विनायक । कृपासिन्धु सुन्दर सब लायक ॥
मोदक प्रिय मुद-मंगल-दाता । विद्यावारिधि बुद्धि-विधाना ॥
माँगत तुलसिदास कर जोरे । बसहि राममिय मानस मोरे ॥

(२)

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज-हारो ॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आगत नहिं, आगतिहर तोसो ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चैरो ।
नान, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो ॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जाँ भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै ॥

(३)

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
राम कृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, डर करतें न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं ॥
परबस जानि हँस्यो इन इद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पदकमल बसैहौं ॥

(४)

केसव कहि न जाइ का कहिये ?
 देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ॥
 सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
 धोये मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥
 रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि माहीं ।
 बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाही ॥
 कोउ कह मत्य, भूठ कह कोउ, जुगल प्रबल करि मान ।
 तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचान ॥

(५)

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
 श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा ते संत सुभाव गहौंगो ॥
 यथालाभ संतोष सदा काहूँ सों कछु न चहौंगो ।
 परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-बचन नैम निबहौंगो ॥
 परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
 बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन, नहि दोष कहौंगो ॥
 परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
 तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो ॥

दोहावली से

राम-नाम मणि-दीप धरु, जीह-देहरी-द्वार ।
 तुलसी भीतर बाहिरौ जो चाहसि उजियार ॥१॥
 प्रीति, प्रतीति, सुरीति सौं रामराम जपु राम ।
 तुलसी तेरो है भलौ आदि-मध्य-परिनाम ॥२॥
 वारि मथे बरु होय घृत, सिकतातें बरु तेल ।
 बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल ॥३॥

उपल बरसि, गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
 चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥४॥
 एक भरोसौ, एक बल, एक आस बिस्वास ।
 स्वाति-सलिल रघुनाथ-जस, चातक तुलसीदास ॥५॥
 ना जाँचे ना संग्रहै सीस नाइ नहि लेहि ।
 ऐसे मानी माँगनहि बिनु बारिद को देहि ॥६॥
 मान चाहिबौ माँगिबौ, पिय सौं नित नव' नेहु ।
 तुलसी ये तीनों फबैं, जो चातक मत लेहु ॥७॥
 चातक ! तुलसी के मते, स्वातिहु पियौ न पानि ।
 प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटेगी आनि ॥८॥
 जड़-चेतन गुन-दोषमय विश्व कीन्ह करतार ।
 संत हंस गुन गर्हाहि पय, परहरि वारि-विकार ॥९॥
 और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोगु ।
 अति विचित्र भगवंत गति, को जाने जग जोगु ॥१०॥
 सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ ।
 जागैं लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ ॥११॥
 ग्रह-ग्रहीत, पुनि वान-वस, तेहि पुनि बीछी मार ।
 तेहि पिआइय बारुनी, कहहु काह उपचार ॥१२॥
 मुखिया मुखसो चाहिये, खान-पान कहुँ एक ।
 पालइ, पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥१३॥
 हरित-भूमि-तृन संकुला, समभि परे नहि पंथ ।
 जिमि पाखंड विवाद तैं, गुप्त होहि सद्ग्रंथ ॥१४॥

कवितावली से

(१)

अवधेस के द्वारे सकारे गयी, सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिकसे ॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातकसे ।
मजनी ! ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह-से बिकसे ॥

(२)

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताइ हरें ।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरें ॥
दमकें दतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकें कलबाल-विनोद करें ।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरें ॥

(३)

बर दंत की पंगति कुदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ॥
घँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुडल लोल कपोलन की ।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की ॥

(४)

दूलह श्रीरघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मंदिर माहीं ।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं ॥
रामको रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं ।
यातें सबै सुधि भूलि गयी, कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥

(५)

कीर के कागर ज्यों नृप चीर बिभूषन, उप्पम अंगनि पाई ।
औष्र तजी मगबास के रुख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई ॥

संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनु धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिव लोचन राम चले तजि बापको राज बटाऊ की नाई ॥

(६)

यहि घाटते थोरिक दूर अहं कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू ।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ॥
तुलसी अवलंब न और कछु लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू ।
वरु मारिये मोहिं, बिना पग धोय हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥

(७)

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछु वेद ना पढ़ाइहौं ।
सब परिवार मेरो याही लागि, राजा जू,
हौं दीन बित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ॥
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वैकै बाद न बढ़ाइहौं ।
तुलसी के ईस राम रावरे सो साँची कहौं,
बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाइहौं ॥

(८)

पुरतें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वे ।
भलकीं भरि भाल कनी जलकी, पुट सूखि गये मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करि हौ कित ह्वै' ।
तिय की लखि आनुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वे ॥

(९)

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच, विलोकहु, री सखी मोहिंसी ह्वै ।
मग जोग न, कोमल क्यों चलि है सकुचात मही पद पंकज द्वे ॥

तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन चवै ।
मव भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥

(१०)

सीम जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौहें ।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं ॥
सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै ।
पूछति ग्राम बधू सिय सों कहो साँवरे-से सखि रावरे को हैं ॥

(११)

सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुभाइ कछू मुसुकाइ चली ॥
तुलसी तेहि औसर सोहै सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली ।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिगसी मनो मंजुल कंज-कली ॥

(१२)

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतमतीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भए मुनिवृंद सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला मव चंद्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन को पगु धारे ॥

प्रश्न

- १ । विनय पत्रिका के संबंध में आप क्या जानते हैं ?
- २ । “विनय पत्रिका में कवि ने अपनी दीनता का बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है” । इस कथन पर प्रकाश डालिए ।
- ३ । तुलसीदास की काव्य रचना संबंधी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
- ४ । “कीर के कागर.....बटाऊ की नाई”; “यहि घाटते.....चढ़ाइहौं जू”; तथा “बिंध्य के बासी.....पगु धारे” इन कवित्तों की व्याख्या कीजिए ।

नन्ददास

[सोलहवीं शताब्दी]

भँवर-गीत

(१)

ऊधव को उपदेश सुनो ब्रज-नागरी ।
रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी ॥
प्रेम-धुजा रस रूपिनी, उपजावत सुखपुंज
सुन्दर स्याम बिलासिनी, नव वृन्दावन कुंज ॥
सुनो ब्रज-नागरी ।

(२)

कहन स्याम सन्देश एक में तुम पे आयौ ।
कहन समै संकेत कहूँ अवसर नहि पायौ ॥
सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाउँ ।
कहि सँदेश नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ ॥
सुनो ब्रज-नागरी ॥

(३)

ताही छिन इक भँवर कहूँते उड़ि तहँ आयो ।
ब्रज-वनितन के पुंज माहि गुंजत छवि छायो ॥
चढ़्यो चहत पग पगनि पर, अरुन कमल-दल जानि ।
मन मधुकर ऊधो भयो, प्रथमहि प्रगट्यो आनि ॥
मधुप को भेस धरि ॥

(४)

कोउ कहै रे मधुप भेस उनही कौ धारयो ।
 स्याम पीत गुजार बैन किकिनि भनकारयो ॥
 वा पुर गोरस चोरिकै, फिरि आयो यहि देस ।
 इनको जनि मानहुँ कोऊ, कपटी इनको भेस ॥
 चोरि जनि जाय कछु ॥

(५)

कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस को जानै ।
 बहुत कुसुम पै बैठि सब आपन सम मानै ॥
 आपन सम हमकों कियो चाहत है मतिमंद ।
 दुबिध ग्यान उपजायकै, दुखित प्रेम आनन्द ॥
 कपट के छंद सों ॥

(६)

कोउ कहै, रे मधुप प्रेम षट्पद पसु देख्यो ।
 अबलौ यहि ब्रजदेस माहि कोउ नाहि बिसेख्यो ।
 द्वै सिंग आनन उपर रे, कारो पीरो गात ।
 खल अमृत सम मानहीं, अमृत देखि डरात ॥
 बादि यह रसिकता !'

(७)

कोउ कहै, रे मधुप ग्यान उलटो लै आयो ।
 मुक्ति परे जे फेरि तिन्हें पुनि करम बतायो ॥
 वेद उपनिषद सार जे, मोहन गुन गहि लेत ।
 तिनके आतम सुद्ध करि, फिरि फिरि संथा देत ॥
 जोग चटसार में ॥

(८)

कोउ कहै, रे मधुप तुम्हें लज्जा नहि आवै ।
 सखा तुम्हारो स्याम कूबरी-नाथ कहावै ॥
 यह नीची पदवी हुती, गोपीनाथ कहाय ।
 अब जदुकुल पानन भयौ, दासी जूठन खाय ॥
 मरत कह बोल को ॥

(९)

धन्य धन्य जे लोग भजत हरि को जो ऐसे ।
 अरु जो पारस प्रेम बिना पावत कोउ कैसे ॥
 मेरे या लघु ग्यान को, उर मद कह्यो उपाय ।
 अब जान्यो ब्रज प्रेम को, लहत न आधौ आध ॥
 बृथा स्रम करि थके ॥

(१०)

करुनामई रसिकता है तुम्हरी सब भूठी !
 जब ही लौं नहि लखौ नबहि लौ बाँधी मूठी ॥
 में जान्यौ ब्रज जाय कै, तुम्हरो निर्दय रूप ।
 जो तुम्हरे अवलम्बहीं, वाको मेलौ कूप ॥
 कौन यह धर्म है ॥

(११)

पुनि पुनि कहें जु जाय चलौ वृन्दावन रहिये ।
 प्रेम पुंज कौ प्रेम जाय गोपिन संग लहिये ॥
 और काम सब छाँड़िक, उन लोगन सुख देहु ॥
 नातरु टूट्यो जात है, अब ही नेह सनेहु ॥
 करोगे तो कहा ॥

(१२)

सुनत सखा के बैन नन भरि आये दोऊ ।
 बिबस प्रेम आवेस रही नाही सुधि कोऊ ।
 रोम रोम प्रति गोपिका, ह्व रहि साँवरे गात ।
 कल्प तरोरुह साँवरो ब्रज-बनिता भई पात ॥
 उलहि अँग अँग तें ॥

प्रश्न

- १। सूरदास और नन्ददास के भ्रमर-गीतों की तुलना कीजिए।
- २। नन्ददास के 'भँवर गीत' का सारांश लिखिए।
- ३। "चढ़यो चहत.....भेस धरि" में अलंकार निर्देश कीजिए।
- ४। "करुनामई.....यह धर्म है" की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए।

केशवदास

[१५५५—१६१२ ई०]

स्फुट

(१)

केशोदास ओरछे के आसपास तीन कोस,
तुंगारन्य नाम बन बैरी को अजीत है;
विधि कैसो बंधु बन बारन बलित बाघ,
बानर बराहु बहु भिल्लको अभीत है।
जमकी जमाति-सो कि जामवंत-कैसो दल,
महिष सुखद स्वच्छ रिच्छन को मीत है;
अचल अनलवंत सिंधु सो सरित जुत,
संभु कैसो जटाजूट परम पुनीत है॥

(२)

पाप के पुज-पखावज केसव, सोक के संख सुने सुखमामें।
भूठ के भालर, भाँभ अलीक के, कीतुक भो कलि के कुरमामें॥
भेद की भेरी, बड़े डर के डफ, आवभ-जूय न जानी जमामें।
जूभन ही वरवीर वजे बहु दारिद के दरवार दमामें॥

(३)

निर्सि-बासर बस्तु-विचारहि कै, मुख-साँचु हिये करुना धनु है;
अघ-निग्रह, संग्रह-धर्म-कथानि, परिग्रह साधुन को गनु है।
कहि 'केसव' भीतर जोग जगै अति, बाहर भोगनि सों तनु है;
मन हाथ सदा जिनके, तिनको वनुही घर है, घर ही वनु है॥

(४)

हरि-कर-मंडन, सफल-दुख-खंडन,
 मुकुर-महि-मंडलको कहत अखंड मति ;
 परम सुवास, पुनि पीयूष-निवास,
 परिपूरन प्रकास, 'कैसौदास' भू-अकास गति ।
 बदन मदन-कैसौ, श्री जू को सदन जिहि,
 सोदर सुधोदर दिनेसजू को मीत अति ;
 सीताजू के मुख सुषमा की उपमा को,
 कहि कोमल न कमल, अमल न रजनिपति ॥

(५)

बाहन कुचाली, चोर चाकर, चपल चित,
 मित्र मतिहीन, सूम स्वामी उर आनिये ।
 परवश भोजन, निवास वास कूकुरन,
 वरषा प्रवास, 'कशोदास', दुखदानि ये ॥
 पापिन के अङ्ग संग, अंगना अनंग वश,
 अपयश युत सूत, चित हित हानि ये ।
 मूढ़ता, बुढ़ाई, ब्याधि, दारिद, भुठाई आधि,
 यहई नरक नर लोकनि बखानिये ॥

(६)

सीतल समीर टारु, चन्द्र चन्द्रिका निवारु,
 ऐसे हो तो 'केशवदास' हरष हिरातु है ;
 फूलनि फैलाई झारि डारु घनसारु चट,
 चन्दन को ढारु चित चौगुनों पिरातु है ।

नीर हीन मीन मुरझाइ जीवै नीर ही तें,
छीर के छिरीकें कहा धीरज धिरातु है;
पाई है पीर किधौ योंही उपचार करै,
आगि ही कौ डाढ़ौ अंग आगि ही सिरातु है ।

(७)

बालि बध्यौ, बलिराउ बँध्यौ,
कर सूली के सूल कपाल थली है ।
काम जर्यौ जग काम पर्यौ बँधि,
शेष धर्यौ विष हाला हली है ।
सिन्धु बँध्यौ किल काली नथ्यौ,
कहि केशव इन्द्र कुचालि चली है;
राम हू की हरी रावण वाम,
तिहूँ पुरु एक अदृष्ट बली है ।

प्रश्न

- १। केशवदास की काव्यगत विशिष्टताओं पर प्रकाश डालिए ।
- २। “सीता जू के मुख.....रजनि पति” में अलंकार-निर्देश कर लक्षण लिखिए ।
- ३। “निसि-बासर.....घरु ही बनु है” की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए ।

रहीम

[सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध]

दोहे

‘रहिमन’ असमय के परे, हित अनहित हुइ जाइ ।
बधिक बधै मृग बान सों रुधिरै देत बताइ ॥१॥
चित्रकूट में रमि रहे, ‘रहिमन’ अवधनरेस ।
जापर बिपदा परति है, सो आवत यहि देस ॥२॥
कोउ ‘रहीम’ जनि काउ के, द्वार गये पछिताइ ।
संपति के सब जात हैं, बिपति सब लै जाइ ॥३॥
जैसी परै सो सहि रहै, कह ‘रहीम’ यह देह ।
धरती ही पर परत है, सीत घाम औ मेह ॥४॥
चाह गई चिता मिटी, मनुआ बेपरवाह ।
जिनको कछू न चाहिए वे साहब के साह ॥५॥
देनहार कोउ और है, भेजत सो दिन रैन ।
लोग भरम हमपै धरें, याते नीचे नैन ॥६॥
जब लग बित्त न आपने, तब लग मित्र न कोइ ।
‘रहिमन’ अम्बुज अम्बु बिनु, रवि ताकर रिपु होइ ॥७॥
जे गरीब पर हित करें, ते ‘रहीम’ बड़ लोग ।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मितार्ई जोग ॥८॥
‘रहिमन’ कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गरब कर लेस ।
भार धरे संसार कर, तऊ कहावत सेस ॥९॥

होय न जाकर छाँह ढिग, फल 'रहीम' अति दूर ।
 बाढ़ेहु सो विन काज ही, जैसे तार खजूर ॥१०॥
 'रहिमन' विगरी आदि कै, बने न खरचे दाम ।
 हरि बाढ़े आकास लौ, तऊ बावने नाम ॥११॥
 छमा बड़ेन कहँ चाहिये, छोटेन कहँ उत्पात ।
 का 'रहीम' हरि कर घटेउ, जो भृगु मारी लात ॥१२॥
 छोटेन सों सोहैं बड़े, कह 'रहीम' यह रेख ।
 सहसन के हय बाँधियत, लै दमरी कै मेख ॥१३॥
 'रहिमन' देखि बड़ेन कहँ, लघु न दीजिये डारि ।
 जहाँ काम आवै सुई, कह करै तरवारि ॥१४॥
 'रहिमन' निज मन कै बिथा, मन ही राखहु गोइ ।
 सुनि अठिलैहें लोग सब, बाँटि न लैहें कोइ ॥१५॥
 साधु सराहै साधुता, जती जोखिता जान ।
 'रहिमन' साँचे सूर कर, बैरी करै बखान ॥१६॥
 अमृत ऐसे बचन में, 'रहिमन' रिस कै गाँस ।
 जैसे मिसिरिहु में मिली, निरस बाँस कै फाँस ॥१७॥
 'रहिमन' बित्त अधर्मकर, जात न लागै बार ।
 चोरी करि होरी रची, भई छिनक में छार ॥१८॥
 जो घर ही में घुसि रहे, कदली-सुवन सुडील ।
 तो 'रहीम' तिन ते भले, पथ के अपत करील ॥१९॥
 'रहिमन' ओढ़े नरन ते, तजहु वर औ प्रीति ।
 काटे चाटे स्वान के, दुहँ भाँति बिपरीति ॥२०॥
 करत निपुनई गुन बिना, 'रहिमन' निगुन हुजूर ।
 मानहुँ टेरत बिटप चढ़ि, यहि प्रकार हम क्रूर ॥२१॥

लोहे की न लोहार की, रहिमत कही विचार ।
 जो हनि मारे सीस में, ताही की तलवार ॥२२॥
 समय लाभ सम लाभ नहि, समय चूक सम चूक ।
 चतुरन चित 'रहिमत' लगै, समय चूक कै हूक ॥२३॥
 मानसरोवर ही मिलै, हंसनि मुकता-भोग ।
 सफरिन भरे 'रहीम' सर, बक बलाकनहि जोग ॥२४॥
 पावस देखि 'रहीम' मन, कोयल साधी मौन ।
 अब दादुर वक्ता भये, हम कहँ पृच्छत कौन ॥२५॥
 'रहिमत' पेटे सों कहत, क्यों न भये तुम पीठि ।
 भूखे मान बिगारहू, भरे बिगारहु डीठि ॥२६॥
 बड़े पेट के भरन में, है 'रहीम' दुख बाढ़ ।
 याते हाथी हहरिकै, दये दाँत द्वै काढ़ ॥२७॥
 आपु न काहू काम के, डार पात फल मूर ।
 औरन हूँ रोकत फिरैं, 'रहिमत' कूर ववूर ॥२८॥
 'रहिमत' कठिन चिताहुते, चिन्ता कहँ चित चेत ।
 चिता दहति निर्जीव कहँ, चिन्ता जीव समेत ॥२९॥
 छोटे काम बड़े करें, तो न बड़ाई होइ ।
 ज्यों 'रहीम' हनुमंत कहँ, गिरिधर कहे न कोइ ॥३०॥
 जो 'रहीम' गति दीप कै, कुल कपूत कै सोइ ।
 बारे उजियारो करै, बड़े अंधेरो होइ ॥३१॥
 छार उछारत सीसपर, कह 'रहीम' किहि काज ।
 जिहि रज मुनि-पतनी तरी, तिहि खोजत गजराज ॥३२॥
 सर सूखे पंछी उड़ै, औरे सरन समाहि ।
 मीन दीन बिनु पच्छ के, कहु 'रहीम' कहँ जाहि ॥३३॥

'रहिमन' वे नर मर चुके, जे कहूँ माँगन जाहिं ।
 उनसे पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाहिं ॥३४॥
 'रहिमन' जाचकता गहे, बड़े छोट हुइ जात ।
 नारायणहू को भयो, बावन आँगुर गात ॥३५॥
 मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाइ ।
 'रहिमन' सोई मीत है, भीर परे ठहराइ ॥३६॥
 'रहिमन' नीचन संग बसि लगत कलंक न काहि ।
 दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहि सब ताहि ॥३७॥
 कहु 'रहीम' कैसे निभै, बेर केर कर सग ।
 वे डोलत रस आपुने, इनके फाटत अंग ॥३८॥
 'रहिमन' बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होइ ।
 हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोइ ॥३९॥

प्रश्न

- १ । "रहिमन बिगरी.....बावने नाम" तथा "छमा बड़ेन..... भगु मारी लात" की अन्तर्कथाओं पर प्रकाश डालिए ।
- २ । "जो रहीम.....अंधरो होइ" तथा "छार उछागत..... खीजत गजराज" की व्याख्या कीजिए ।
- ३ । रहीम की जीवनी के संबंध में आप क्या जानते हैं ?

बिहारीलाल

[जन्म: १६०३ ई०, मृत्यु....?]

सतसई के दोहे

रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजने दैन ।
अंजन रंजन हूँ विना, खंजन गंजन नैन ॥१॥
भूषन भार सँभारही, क्यों यह तनु सुकुमार ।
सूधो पाँय न परत महि, सोभा ही के भार ॥२॥
फिर घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि ।
फूल्यो देखि पलास वन, समुहै समुझि दवागि ॥३॥
कहलाने एकत रहत, अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥४॥
प्यासे दुपहर जेठ के, थके सबै जल सोधि ।
मरुधर पाय मतीरह, मारु कहत पयोधि ॥५॥
बिखम बूखादित की तृखा, जियत मतीरनि सोधि ।
अमित अपार अगाध जल, मारौ मूँड पयोधि ॥६॥
पावस घन अधियार में, रहो भेद नहि आन ।
राति दिवस जान्यो परे, लखि चकई चकवान ॥७॥
अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुख चंद ।
समय आय सुन्दर शरद, काहि न करत अनंद ॥८॥
कोटि यतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच ।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥९॥

तन्त्री नाद कबित्त रस, सरस राग रति रंग ।
 अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ॥१०॥
 कैसे छोटे नरन तें, सरत बड़नि के काम ।
 मढ़ो दमामो जात है, कहिँ चूहे के चाम ॥११॥
 अति अगाध अति ऊथरो, नदी कूप सर बाय ।
 सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुभाय ॥१२॥
 जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं ।
 ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहिं ॥१३॥
 मीत न नीति गलीत ह्वै, जो धरिये धन जोरि ।
 खाये खरचे जो बचै, तौ जोरिये करोरि ॥१४॥
 दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न करै दुख द्वन्द ।
 अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चन्द ॥१५॥
 घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन याचत जाय ।
 दिये लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बड़ो लखाय ॥१६॥
 बसै बुराई जासु मन, ताही को मन्मान ।
 भलो भलो कहि छाँड़िये, खोटो ग्रह जप दान ॥१७॥
 कहै यहै श्रुति समृतिहँ, सब सयाने लोग ।
 तीन दबावत नि^बक^ह ही, राजा पातक रोग ॥१८॥
 इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार ।
 कितैने^न अवगुन जग करत, नै वै चढ़ती बार ॥१९॥
 बुरो बुराई जो तजै, तौ मन खरो सकात ।
 ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनं लोग उतपात ॥२०॥
 बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाइ ।
 घटत घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥२१॥

संगति सुमति न पावई, परे कुमति के धंध ।
 राखो मेलि कपूर में, हींग न होय सुगंध ॥२२॥
 सबै हँसत करतार दै, नागरता के नाँव ।
 गयो गरब गुन को सबै, बसे गमेले गाँव ॥२३॥
 को कहि सकै बड़ैन सों, लखे बड़ीयो भूल ।
 दीने दई गुलाब की, इन डारन ये फूल ॥२४॥
 चले जाहु ह्याँ को करै, हाथिन को व्योपार ।
 नहि जानत यहि पुर बसै, धोबी औड़ कुम्हार ॥२५॥
 नर की अरु नल नीर की, एकै गति करि जोय ।
 जेतो नीचो ह्वै चलै, ततो ऊँचो होय ॥२६॥
 गिरितैं ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार ।
 वहै सदा पसु नरन को, प्रेम-पयोधि पगार ॥२७॥
 जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार ।
 अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार ॥२८॥
 इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल ।
 हुइ हैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल ॥२९॥
 पट पाँखे भख काँकरी, सदा परेई सङ्ग ।
 सुखी परेवा जगत में, एकै तूही बिहंग ॥३०॥
 मरत प्यास पिँजरा परघो, सुआ समय के फेर ।
 आदर दै दै बोलियतु, बायस बलि की बेर ॥३१॥
 नहि पावस ऋतुराज यह, तज तरुवर मति भूल ।
 अपत भये बिन पाइ है, क्यों नव दल फल फूल ॥३२॥
 वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तौ आब ।
 फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥३३॥

- कर ले सँघि सराहि कै, रहै सब गहि मौन ।
 गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥३४॥
 करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।
 चुप करि रे गन्धी चतुर, अतर दिखावत काहि ॥३५॥
 कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय ।
 वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय ॥३६॥
 • बड़े न हूजैं गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
 कहत धतूरा सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥३७॥
 • या अनुरागी चित्त की, गति ममुभै नहि कोय ।
 ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों त्यों उज्जल होय ॥३८॥
 दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साईं मति भूल ।
 दर्ई दर्ई क्यों करत है, दर्ई दर्ई सु कबूल ॥३९॥
 थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि ।
 तुमहू कान्ह मनो भये, आज काल के दानि ॥४०॥
 अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि ।
 कागन सों जिन प्रीति कर, कोयल दर्ई बिडारि ॥४१॥
 यदपि पुराने बक तऊ, सरवर निकट कुचाल ।
 • नये भये तो का भये, ये मनहरन मराल ॥४२॥
 संगति दोष लगे सबन, कह जु साँचे बैन ।
 कुटिल बद्ध भ्रूसंग में, कुटिल बद्ध गति नैन ॥४३॥
 सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
 देखत के छोटे लगैं, घाव करें गम्भीर ॥४४॥
 मोहू दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमनि दियो ।
 जो बाँधे ही तोष, तो बाँधो अपने गुनन ॥४५॥

मैं समुभो निरधार, यह जग काचो काँच सो ।
 एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखिये जहाँ ॥४६॥
 मीम मुकुट कटि काढ़नी, कर मुरली उर माल ।
 यहि बानिक मो मन बसो, सदा बिहारीलाल ॥४७॥

प्रश्न

- १। “घर घर डोलत.....बड़ो लखाय”; “गिरितें ऊँचे.....
 पयोधि पगार”; “या अनुरागी.....उज्जल होय” की व्याख्या
 कीजिए ।
- २। बिहारी की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डालिए ।
- ३। बिहारी की काव्यगत विशेषताओं का परिचय दीजिए ।
- ४। ‘मुक्तक’ से आप क्या समझते हैं ? “मुक्तक कविता के सभी
 गुणों का समावेग बिहारी के दोहों में है”, इस कथन का
 तात्पर्य क्या है ?
- ५। ‘फलयो देखि.....दवागि’ में कौन सा अलंकार है । उसके
 लक्षण पर प्रकाश डालिए ।

पद्माकर

[१७५३—१८३३ ई०]

पद्माकर-रत्नावली से

गंगा के चरित्र लखि भाख्यो जमराज यह,
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान है ।
कहै 'पद्माकर' नरक सब मूँदि करि,
मूँदि दरवाजेन को तजि यह थान दै ।
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव यातें,
दूतन बुलाइकै बिदा के अब पान दै ।
फारि डारु फरदन राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै ।

(२)

जैसो तैं न मोकों नकहू डरात हू तो,
तैसो अब हौं हूँ तोसो नेकहू न डरिहौं ।
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जो परेगो तो,
उमँड़ि करि तोसों भुजदंड ठोंक लरिहौं ।
चलो चलु, चलो चलु, बिचलु न बीचही ते,
कीच बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरिहौं ।
एरे दगादार, मेरे पातक अपार तोसों,
गंगा के कछार में पछार छार करिहौं ।

(३)

विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही,
हरि-पद पंकज-प्रताप की लहर है ।

कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के,
मंडन की माल ततकाल अधहर है ।
भूपति भगीरथ के रथ को सुपन्थ पथ,
जह्नु जप जोग फल फैलकी फहर है ।
श्रेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर जमजाल को जहर है ।

(४)

लोचन असम अंग भसम चिता की लाइ,
तीनों लोकनायक सो कैसे को ठहरतो ।
कहै 'पद्माकर' बिलोकि इमि ढंग जाके,
वेदन पुरान गान कैसे अनुसरतो ।
बांधि जटाजूट बैठि परबत कूट माहि,
महाकाल कूट कहौ कैसे कै ठहरतो ।
पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै,
पूछतो को नंगै जो न गंगै सीस धरतो ।

(५)

देव नर किन्नर कितेक गुन गावत पै,
पावत न पार जा अनन्त गुन पूरे को ।
कहै 'पद्माकर' सुगाल के बजावत ही,
काज करि देत जन जाचक जरूरे को ।
चंद की छटान युत पन्नग-फटान-युत,
मुकुट बिराजै जटा जूटन के जूरे को ।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को ।

(६)

रे मन साहसी, साहम राख, सुसाहस सौ सब जेर फिरेंगे ।
 त्यों 'पद्माकर' या सुख में दुख, त्यों दुख में सुख सेर फिरेंगे ॥
 वैसे ही वेणु बजावत श्याम, सुनाम हमारौ हू टेर फिरेंगे ।
 एक दिना नहिं एक दिना, कबहुँ फिर वे दिन फेर फिरेंगे ॥

(७)

को किहिको मुत को किहिको पितु,
 को किहिको पति कौनकी को ती ।
 कौनको को जग ठाकुर चाकर,
 को 'पद्माकर' कौनको गोती ।
 जानकी-जीवन जानि यहै,
 तजि दे तू सब धन धाम औ धोती ।
 हौं तो न लोटती लोभ लपेट में,
 पेट की जोपै चपेट न होती ।

(८)

आनंद के कंद जग ज्यावत जगत वन्द्य,
 दसरथनंद के निवाहेइ निवहिये ।
 कहै 'पद्माकर' पवित्र पन पालिबे को
 चौर चक्रपानि के चरित्रन को, चाहिये ।
 अवध-बिहारी के बिनोदन में बींधि-बींधि,
 गीधा गुह गीधे के गुनानुवाद गहिये ।
 रैनदिन आठो जाम, राम राम राम राम,
 सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ।

(९)

कान्ह पगे कुबजा के कलोलनि,
 डोलनि छोड़ि दई हर भाँती ।
 माधुरी मूरति देखे बिना,
 'पदमाकर' लागै न भूमि सोहाती ।
 का कहिये उनको सजनी,
 यह बात है आपने भाग समाती ।
 दोष बसंत को दीजै कहा,
 उलहै न करील की डारन पाती ।

(१०)

जाहिरै जागतसी जमुना, जब
 बूड़ै बहै उमहै वह वेनी ।
 त्यों 'पदमाकर' हीरा के हारन
 गंगा तरंगन सी सुख देनी ।
 पायन के रँगसों रँगि जातसी
 भाँति ही भाँति सरस्वति सेनी ।
 पँरे जहाँई जहाँ वह वाल
 तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबेनी ।

(११)

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
 क्यारिन में कलिन कलिन किलकंत है ।
 कहै 'पदमाकर' परागन में पौनहू में,
 पानन में पीक में पलासन पगंत है ।

द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस देसन में,
 देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है ।
 बीथिन में, ब्रज में, नबेलिन में बेलिन में
 बनन में बागम में बगरधो बसन्त है ।

(१२)

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँत गनबेलिन के,
 परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं ।
 कहै 'पद्माकर' बिसासो या बसंतकेसु,
 ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं ।
 ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजौ भलो,
 हरि सो हमार ह्याँ न फूले बन कुंज हैं ।
 किसुक गुलाब-कचनार औ' अनारन की
 डारन प डोलत अँगारन के पुंज हैं ।

(१३)

मल्लिकान मंजुल मलिद मतवारे मिले,
 मंद मंद माखत मुहीम मनसा की है ।
 कहै 'पद्माकर' त्यों नादन नदीन नित,
 नागर नबेलिन की नजर निसा की है ।
 दौरत दरेरे देत दादुर सुहँदै दीह;
 दामिनी दमंकनि दिसनि में दसा की है ।
 बहलनि बुंदनि बिलोको बगुलानि बाग,
 बंगलनि बेलनि बहार बरसा की है ।

(१४)

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै,
 बृन्दावन बीथिन बहार बंसीबट पै ।
 कहै 'पद्माकर' अखंड रासमंडल पै,
 मंडित उमड़ि महा कार्लिदी के तट पै ।
 छिति पै छान पै छाजन छतान पै,
 ललित लतान पै लाड़िली की लट पै ।
 आयी भली छायी यह सरद जुन्हायी,
 जिहि पाई छबि आजुही कन्हारि के मुकट पै ॥

प्रश्न

- १। 'पद्माकर' की कविताओं की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।
- २। 'पद्माकर' की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डालिए ।
- ३। "विधि के कमंडल.....जहर है" में अन्तर्कथाओं का निर्देश कीजिए ।
- ४। 'अनुप्रास' अलंकार से क्या समझते हैं ? इसके भेदों पर प्रकाश डालिए । अपने पढ़े हुए पदों से उदाहरण दीजिए ।
- ५। "रे मन.....फेर फिरेंगे" तथा "लोचन असम.. . . सीस धरतो" पदों की व्याख्या कीजिए ।

देव

[जन्म १६७३ ई०]

कवित्त

‘देव’ नभ मंदिर में बैठारचो पुहुमि पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाये उमहत हौं ।
सकल महीतल के मूल फल फूल दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं ।
अगिनि अनंत धूप दीपक अखड ज्योति,
जल थल अन्न दै प्रसन्नता चहत हौं ।
ढारत समीर चौर कामना न मेरे और,
आठों जाम राम तुम्हे पूजत रहत हौं ।

(२)

धाये ५ फिरौ ब्रज मे बधाये नित नंदजू के,
गोपी सधाये नाचौ गोपिन की भीर में ।
‘देव’ मतिमूढ़े तुम्हें ढूँढन कहाँ पावें चढ़े
पारथ के रथ पैठे जमुना के नीर में ।
आँकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारचो उर
साथी ना पुकारचो हते हाथी हिय तीर में ।
बिदुर की भाजी बेर भीलनी के खाय
बिप्र चाउर चबाय दुरे द्रौपदी के चीर में ।

(३)

आई बरसाने ते बुलाई वृषभानु-सुता
निरखि प्रभानु प्रभा भानु की अथै गई ।

चक चकवान के चकाये चक चोटन सों
 चौकत चकोर चकाचौधी-सी चकै गई ।
 देव' नंदनंदन के नैनन अनंद भई,
 तंदजू के मंदिगन चंदमई छै गई ।
 कंजन कलिनमई कुंजन अलिनमई,
 गोकुल की गलिन नलिनमई कै गई ।

(४)

बरुनी बघम्बर मे गूदरी पलक दोऊ,
 कोये राते बसन भगोहैं भेख रखियाँ ।
 बूड़ी जलही मं दिन जामिनी रहति भौहैं,
 धूम सिर छायाँ विरहानल बिरखियाँ ।
 आँसू ज्यों फटिक माल लाल डोरे सेल्ही सजि,
 भई हूँ अकेली तजि चेली संग सखियाँ ।
 दीजिए दरस 'देव' कीजिए सँजोगिनि, ये
 जोगिन तू बैठी हूँ वियोगिनी की अँखियाँ ।

(५)

ऐसो जो हौं जानतो कि जैह तू विषय के संग,
 एरे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो ।
 आजहूँ लौं हौं कत नर नाहन की नाहीं सुनि
 नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
 चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
 चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो ।
 भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
 राधाबर-बिरुद के बारिधि में बोरतो ।

(६)

जब तें कुँवर कान्हू रावरी कलानिधान,
 कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी ।
 तबही ते 'देव' देखी देवता-सी हँसति-सी,
 खीभति-सी रीभति-सी रुसति-रिसानी-सी ।
 छोही-सी छली-सी छोनि-लीनी-सी छकी-सी छोनि,
 जकी-सी चकी-सी लागी थकी थहरानी-सी ।
 बींधी-सी बँधी-सी विष बूड़ी-सी विमोहित-सी,
 बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी-सी ।

(७)

औचक अगाध सिंधु स्याही कौ उमँगि आयौ,
 तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संग में ।
 कार कार कागद लिख ज्यों कारे आखर,
 सु न्यारे करि बाँचै, कौन नाचे चित भंग में ।
 आँखिन में तिमिर अमावस की रैन अरु,
 जंबू रस बूँदि जमुना जल तरंग में ।
 यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यौ 'देव',
 स्याम रँग ह्वै करि समान्यौ स्याम रँग में ।

(८)

रीभि रीभि रहसि रहसि हँसि हँसि उठें,
 साँसे भरि, आँसू भरि, कहत दई दई ।
 चौंकि चौंकि चकि चकि, उचकि उचकि 'देव',
 जकि जकि, बकि बकि, परत बई बई ।

दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरे,
 घर न थिरात रीति नेह की नई नई ।
 मोहि मोहि मोहन को मन भयौ राधिका में,
 राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई ।

(९)

डारि द्रुम पालना बिछौना नव पल्लव के,
 सुमन भँगूला सोहै तन छबि भारी दै ।
 पवन झुलावै केकी कीर बतरावै 'देव',
 कोयल हलावै हुलसावै करतारी दै ।
 पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन,
 कुन्द कली नायिका लतान सिर सारी दै ।
 मदन महीपजू को बालक बसन्त ताहि,
 प्रात ही जगावत गुलाव चटकारी दै ।

(१०)

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
 कोऊ कहौ रंकिनी, कलकिनी, कुनारी हौं ।
 कंसो नरलोक, परलोक, बरलोकनि में,
 लीन्हों में अलीक, लोक-लोकनि ते न्यारी हौं ।
 तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
 प्राण किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं ।
 वृन्दावनवारी बनवारी की मुकुट-वारी,
 पीत पट-वारी वाहि मूरति पै वारी हौं ।

सवैया

धार में धाय धँसो निरधार हूँ, जाय फँसी, उकसी न अबेरी ।
री अँगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरी नहि घेरी ।
'देव' कछु अपनो बसना, रस लालच लाल चित्तै भई चेरी ।
बेगिही बूड़ि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ॥

(२)

पाँथन नूपुर मंजु बजै कटि किंकिनि मे धुनि की मधुराई ।
माँवरे अंग लसै पटपीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई ।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई ।
जै जग-मंदिर दीपक सुंदर श्रीव्रज-दूलह 'देव'-महाई ॥

(३)

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो हरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
'देव' जियै मिलिबेई को आस कै आसहु पास अकास रह्यो भरि ।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ॥

प्रश्न

- १। "ऐसो जो.....में बोरतो", "औचक अगाध.....स्याम रंग में" तथा "धार में धाय.....भई मेरी" की व्याख्या कीजिए ।
- २। "घाये फिरी.....द्रौपदी के चीर में" इस पद की अंतर्कथाओं का निर्देश कीजिए ।
- ३। "बरुनी बघाम्बर.....अँखियाँ" के अलंकारों का निर्देश कीजिए ।

सेनापति

[जन्म: सोलहवीं शताब्दी का अंतिम चरण]

स्फुट

पान चरनामृत को, गान गुन गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिए को हुलसिबो ।
प्रभु के उतीरन की गूदरी औ चीरन की,
भाल उर कंठ भुज छापन को लसिबो ।
'सेनापति' चाहत है सकल जनम भर
वृन्दावन सीमातें न बाहर निकसिबो ।
राधा मनरंजन की, सोभा नैन कंजन की,
माल गरे गुंजन की, कुंजन को बसिबो ।

(२)

धातु सिलदारु, निरधारु प्रतिमा को, सार
सो न करतारु है, बिचारु बीच गेह रे ।
राखि दीठि अंतर, जहाँ न कुछ अंतर है,
जीभ को निरंतर जपावत हरे हरे ।
अंजन विमल 'सेनापति' मनरंजन है
जपि के निरंजन परम-पद लेहरे ।
करि न सँदेह रे, वही है मन देह रे,
कहा है बीच देह रे, कहा है बीच देह रे ।

(३)

जनक नरिन्द नंदिनी को, बदनारविद,
 सुंदर बखानो 'सेनापति' बेद चारि के ।
 बरनी न जाई जाकी, नेकहू निकाई, लोनु-
 राई करि पंकज निसंक डारे मारि कै ।
 बार-बार जाकी बराबरि को विधाता अब,
 रचि पचि बिधु को बनावत सुधारि कै ।
 पूनौ को बनाय, जब जानत न वैसो भयो,
 कुहू के कपट तब डारत बिगारि कै ।

(४)

चल्लो हनुमान, राम-वान के समान जान,
 सीता सोध काज दसकंधर नगर को ।
 रामको जुहारि, बाहु-बल को सँभारि कारि,
 सबही के ससे निरबारि डारि डर को ।
 लागी है न बार, फाँदि गयौ पारावार,
 कौन 'सेनापति' कविता बखाने बेग चर को ।
 खोलत पलक जैसे एक ही पलक बीच,
 दृगन को तारो दौरि मिलै दिनकर को ।

(५)

रावन को बीर 'सेनापति' रघुबीर जू को
 आयो है सरन, छाँड़ि ताही मद-अंध को ।
 मिलत ही ताको, राम कोप कै करी है ओप,
 नाम जोय दुर्जन दलन दीनबंधु को !

खोदे दान वीरता, निदान एक दान ही में,
 कीन्हें दोऊ दान, को बखाने सत्य-सिंधु को ।
 लंका दसकंधर की दीनी है विभीषण को,
 संका विभीषण की, सो दीनी दसकंधर को ।

(६)

नहीं नाहीं करै थोरै माँगे सब देन कहै,
 मंगन को देखि पट देत बार बार है ।
 जिनके लखत भली प्रापति की घरी होत,
 सदा सबजन मन भाय निरधार है ।
 भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
 कन कन जोर दान पाट परिवार है ।
 'सेनापति' बचन की रचना विचारि देखो,
 दाता और सूम दोऊ कीन्हें एक सार है ।

ऋतु वर्णन

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखो,
 आयी ऋतु पावस न पायी प्रेम पतियाँ ।
 धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ
 दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ ।
 आयी सुधि बरकी हिये में आनि खरकी,
 सुमिरि प्रान प्यारी यह प्रीतम की बतियाँ ।
 बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
 डग भयी बावन की सावन की रतियाँ ।

(२)

सेनापति उनये नये जलद सावन के,
 चारिहूँ दिसान घुमरत भरे तोयके ।
 सोभा सरसाने न बखाने जात, कौनो भाँति
 आने हैं पहार मानो काजर के ढोयके ।
 घन सों गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
 देखि न परत गयो मानो रवि खोय के ।
 चारि मास भरि घोर निसाको भरम करि,
 मेरे जान याही तें रहत हरि सोयके ।

(३)

विविध बरन सुर चाप ते न देखियत,
 मानो मनि भूषन उतारि धरे भेष हैं ।
 उन्नत पयोधर वरसि रसु गिरि रहे,
 नीके न लगत फीके, सोभा के न लेस हैं ।
 'सेनापति' आये तें सरद ऋतु फूलि रहे,
 आस-पास कास खेत खेत चहुँ देस हैं ।
 जीवन हरन कुंभजोनि के उदै ते भये,
 वरषा विरिध ताके सेत मानो केस हैं ।

(४)

कातिक की राति, थोरी थोरी सियराति,
 'सेनापति' को सुहाति, सुखी जीवन के गन हैं ।
 फूले हैं कुमुद फली मालती, सघन वन,
 फूलि रहे, तारे मानो मोती अनगन हैं ।

उदित त्रिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
 राम कैसो जस, अध ऊरध गगन है ।
 तिमिर हरन भयो सत है बरन, सब
 मानहुँ जगत छीर सागर मगन है ।

(५)

सिसिर में ससि को सरूप पावै सबिताहू,
 धामहुँ में चाँदनी की दुति दमकति है ।
 'सेनापति' होति सीतलता है सहस गुनी,
 रजनी की भाई-बासर में भमकति है ।
 चाहत चकोर सूर ओर दृग छोरे करि,
 चकवा की छाती तजि धीर धसकति है ।
 चंद के भरम होत मोह है कुमुदनी को,
 ससिसंक पंकजनी फूल न सकति है ।

प्रश्न

- १। "जनक नरिन्द.....बिगारि कै" तथा "खोलत.....दिनकर को" के अलंकारों का निर्देश कर उनके लक्षणों पर प्रकाश डालिए ।
- २। उक्त छंदों में आपको कौनसा छंद सब से अधिक मनोहर लगा ? कारण बताइए ।
- ३। "नहीं नाही.....एक सार है" "सेनापति उनये.....हटि सोय के" की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए ।
- ४। सेनापति के ऋतु वर्णन की विशेषताओं का निर्देश करते हुए, सोदाहरण एक लघु निबंध लिखिए ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[१८४६—१८८३ ई०]

नाथ तुम अपनी ओर निहारो ।
हमरी ओर न देखहु प्यारे निज गुन-गनन विचारो ॥
जो लखत अब लौं जन-औंगुन अपने गुन बिसराई ।
तौ तरते किमि अजामेल से पापी देहु बतलाई ॥
अब लौं तौ कबहूँ नहि देख्यौ जन के औंगुन प्यारे ।
तौ अब नाथ नई क्यों ठानत भाखहु बार हमारे ॥
तब गुन छमा दया सों मेरे अघ नहि बड़े कन्हाई ।
तासों नारि लेहु नंदनंदन हरीचंद को धाई ॥

सवैया

बह सुन्दर रूप बिलोकि सखी मन हाथ तें मेरे भग्यो सो भग्यो ।
चित माधुरी मूरति देखत हीं हरिचन्द्र जू जाय पग्यो सो पग्यो ॥
मोहि औरन सों कछु काम नहीं अब तौ जो कलंक लग्यो सो लग्यो ।
रंग दूसरो और चढ़ैगो नहीं अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रँग्यो ॥१॥

धिक देह और गेह सब सजनी जिहि के बस नेह को टूटनो है ।
उन प्रान पियारे बिना इहि जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है ॥
हरिचन्द्र जू बात ठनी सो ठनी नित के कलकानि तें छूटनो है ।
तजि और उपाय अनेक अरी, अब तौ हमको विष घूटनो है ॥२॥

ऊधो जू सूधो गहो वह मारग ग्यान की तेरी जहाँ गुदरी है ।
 कोऊ नहीं मिख मानिहै ह्याँ, इक स्याम की प्रीति प्रतीति खरी है ॥
 ये ब्रजवाला सबै इक-सी हरिचन्द्र जू मंडली ही बिगरी है ।
 'एक जौ होय तो ग्यान सिखाइए, कूप ही में यहाँ भाँग परो है ॥३॥

दीन दयाल कहाइ कै धाइ कै, दीनन सों क्यों मनह बढ़ायो ।
 त्यों हरिचन्द्र जू बेदन में करुनानिधि नाम कहो क्यों गवायो ॥
 एती रुखाइ न चाहिए तापै कृपा करिक जेहि को अपनायो
 ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यो तो गरीबनेवाज क्यों नाम धरायो ॥४॥

ब्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन हे हमहूँ पहिचानती हैं ।
 पै बिना नंदलाल बिहाल सदा हरिचन्द्र न जानहि ठानती हैं ॥
 तुम ऊधो यहै कहियो उनसों हम और कछू नहि जानती हैं ।
 पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखिया दुखियाँ नही मानती हैं ॥५॥

कवित्त

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
 कविन के मीत, चित हित गुनगानी के ।
 सीधन सों सीधे, महाबाँके हम बाँकन सों,
 हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के ।
 चाहिवे की चाह, काहू की न परवाह, नेही
 नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के ।
 सरबस रसिक के, दास-दास प्रेमिन के,
 सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के ।

(२)

इन दुखियान को न चैन सप्रनेहँ मिल्यौ,
 तासों सदा व्याकुल विकल अकुलाएँगी ।
 प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औध्र प्रान,
 चाहत चले पै ये तो संग ना समाएँगी ।
 देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि, यातें
 जौन-जौन लोक जैहैं तहाँ पछिताएँगी ।
 बिना प्रानप्यारे भय दरस तुम्हारे हाय,
 मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जाएँगी ।

(३)

पहिले ही जाय मिले गुन में स्रवन फेरि,
 रूप-सुधा मधि कीनो नैनहू पयान है ।
 हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई,
 रसिकाई मिलि मति पय पान है ।
 मोहि मोहि मोहन-मई री मन मेरो भयो,
 हरीचन्द भेद ना परत कछु जान है ।
 कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
 हिय में न जानि परै कान्ह है कि प्रान है ।

(४)

मनमोहन तें बिछुरीं जब सों,
 तन आँसुन सों सदा धोवती हैं ।
 हरिचन्द जू प्रेम के फंद परीं,
 कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं ।

दुख के दिन को कोउ भाँति वितै,
 बिरहा गम, रैन सँजोवती हैं ।
 हमहीं अपुनी दसा जानें सखी,
 निसि सोवती हैं किधौ रोवती हैं ।

(५)

बिछुरे पिय केजग सूनो भयो,
 अब का करियै कहि पेखिए का ।
 सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हर,
 इन तुच्छन को अब लेखिए का ।
 हरिचन्द जू हीरन को बेवहार कै,
 काँचन को लै परेखिए का ।
 जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो
 उन आँखिन सों अब देखिए का ।

यमुना-वर्णन

तरनि-तनूजा तट तमाल-तरुवर बहु द्याए ।
 भुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए ॥
 किधौ मुकुर में लखत उभकि सब निज-निज सोभा ।
 कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
 मनु आतप-बारन तीर को सिमिट सबै छाए रहत ।
 कै हरि-सेवा-हित नै रहै निरखि नैन मन सुख लहत ॥

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ।
 कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनी, लगि रहि पाँतिन ॥
 मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ।
 कै उमँगै प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा ॥
 कै करिकै कर बहु पीय को टेरेत निज ढिंग सोहई ।
 कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ॥

कै पिय-पद-उपमान जानि यहि निज उर धारत ।
 कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत ॥
 कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आई ।
 कै ब्रज-तियगन-वदन-कमल की झलकत भाँई ॥
 कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल बगरे फिरत ।
 कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत ॥

परत चंद्र प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो ।
 लोल लहर लहि नचत कबहुँ मोई मन भायो ॥
 मनु हरि-दरसन हेत चंद्र जल बसत सुहायो ।
 कै तरंग-कर मुकुर लिए सोभित छवि छायायो ॥
 कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है ।
 कै जल-डर हरि-मूर्ति बसति ता प्रतिबिम्ब लखात है ॥

कबहुँ होत सतचंद्र, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ।
 पवन-गवन-बस विव रूप जल मैं बहु साजत ॥
 मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ।
 कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै ॥

कै बाल-गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत-उत धावती ।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ हांत मिटि जात जमुन-जल ।
कै तारागन ठगन लुकत प्रकटत समि अबिकल ॥
कै कालिंदी नीर-तरंग जितो उपजावत ।
तितने ही धरि रूप मिलन हिन तामों धावत ॥
कै बहुत रजत चकई चलत, कै फुहार-जल उच्छरत ।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बंठत कसरत करत ॥

कूजत कहूँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत ।
कहूँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत ॥
चक्रवाक कहूँ वसत, कहूँ बक ध्यान लगावत ।
सुक-पिक जल कहूँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत ॥
कहूँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पछी करत ।
जलपान, नहान करि सुख-भरे तट-सोभा सब जिय धरत ॥

कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई ।
उज्ज्वल भलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई ॥
पिय के आगम हेत पाँवड़ मनहुँ बिछाए ।
रत्न रासि करि चूर कूल में मनु बगराए ॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, स्याम नीर चिकुरन परसि ।
सतगुन छायौ कै तीर में ब्रजनिवास लखि हिय हरसि ॥

प्रश्न

- १। विचारों की दृष्टि से हिन्दी कविता को भारतेन्दु की क्या देन है ? प्रकाश डालिए।
- २। “भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य के लिए एक बड़े सौभाग्य की बात हुई” इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
- ३। हरिश्चन्द्र के ‘यमुना-वर्णन’ का सारांश सरल भाषा में लिखिए।
- ४। अपनी पाठ्य पुस्तक के आधार पर हरिश्चन्द्र की कविताओं की समीक्षा कीजिए।
- ५। “भारतेन्दु ने एक प्रेमी भक्त का हृदय पाया था।”—संग्रहीत रचनाओं से उदाहरण देते हुए इस कथन का समर्थन कीजिए।

मैथिलीशरण गुप्त

[जन्म : १८८६ ई०.....]

अच्छी आँख-मिचौनी खेली ।
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली ।
किसी शान्त एकान्त कुंज में तुम जाकर सो जाओ,
भटकूँ इधर उधर मैं, इसमें क्या रस है बतलाओ ?
यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो, अनायास ही पाओ,
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूँ मैं, जाने भी दो आओ,
करें बैठ रँग-रेली !

अच्छी आँख-मिचौनी खेली ।

पर जब तुम हो सभी कही, तब मैं ही क्यों यों भटकूँ ?
चाहूँ जिधर उधर ही अपना भार पटक कर सटकूँ ।
इसकी भी क्या आवश्यकता जो बाहर पर अटकूँ,
अन्तर के ही अन्धकार में क्यों न पीत पट भटकूँ,
बन अपनी ही चेली !

अच्छी आँख-मिचौनी खेली ।

(२)

दरसो परसो घन, बरसो ।
सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो ।

पद्यमाला

धुमड़ उठो आषाढ़, उमड़ कर पावन सावन, बरसो ।
 भाद्र-भाद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिघन बरसो ।
 सृष्टि-दृष्टि के अंजन रंजन, ताप-विभंजन, बरसो ।
 व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, अग्र अग्रस्तन, बरसो ।
 गत सुकाल के प्रत्यावर्त्तन, हे शिखिनर्तन, बरसो ।
 जड़-चेतन में बिजली भूरुदो, ओ उद्बोधन, बरसो ।
 चिन्मय बनें हमारे मृण्मय, पुलकांकुर बन, बरसो ।
 मन्त्र पढ़ो, छींटे दो, जागे सोये जीवन, बरसो ।
 घट पूरो त्रिभुवन मान-सरस, कन-कन छन-छन, बरसो ।
 आज भीगते ही घर पट्टुचे, जन-जन के जन, बरसो ।

['साकेत' से]

(३)

निरख सखी, ये खंजून आये !

फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये ।
 फैला उनके मन का आतप, मन ने सर सरसाये,
 घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये ।
 करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
 फूल उठे हैं कमल, अवर रं ये बन्धुक सुहाये ।
 स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
 नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु-अर्घ्य भर लाये !

['साकेत' से]

रामचन्द्र (४)

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
 मेरी कूटिया में राजभवन मन भाया ।

सम्राट् स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ, यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।

सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुंजाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा।

प्रहरी निर्भर, परिखा^{वा} प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारिविन्दुफलस्वास्थ्य शुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप भलती हूँ।

तनु-लता-सफलता-स्वादु आज ही आया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

जिनसे ये प्रणयी प्राण-त्राण पाते हैं,
जी भर कर उनको देख जुड़ा जाते हैं।
जब देव कि देवर विचर यहाँ आते हैं,
तब नित्य नये दो एक द्रव्य लाते हैं।

उनका वर्णन ही बना विनोद सवाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं ।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं ।

निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

मैं पली पक्षिणी विपिन-कुंज-पिंजर की,
आती है कोटर सदृश मुझे सुधि घर की ।
मृदु-तीक्ष्ण वेदना एक एक अन्तर की,
बन जाती है कल गीति समय के स्वर की ।

कब उसे छेड़ यह कंठ यहाँ न अघाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

गुरुजन-परिजन सब धन्य ध्येय हैं मेरे,
औषधियों के गुण-विगुण ज्ञेय हैं मेरे ।
वन-देव-देवियाँ आतिथेय हैं मेरे,
प्रिय संग यहाँ सब प्रेय श्रेय हैं मेरे ।

मेरे पीछे ध्रुव धर्म स्वयं ही धाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े ।

गाओ दिवि, चातक, चटुक, भृग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास-वर्ष हैं थोड़े।

तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया ?
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

अयि राजहंसि ! तू तरस तरस क्यों रोती ?
तू शुक्ति-वंचिता कहीं मैथिली होती।
तो श्यामल तनू के श्रमज-बिन्दुमय मोती,
निज व्यजन-पक्ष से तू अँकोर सुध खोती,
जिन पर मानस ने पद्म-रूप मुँह बाया।
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

ओ निर्भर ! भर-भर नाद सुनाकर भड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ-सुलझ, बढ़-अड़ तू।
ओ उत्तरीय ! उड़, मोद पयोद घुमड़ तू,
हम पर गिरि-गद्गद् भाव, सदैव उमड़ तू।
जीवन को तूने गीत बनाया, गाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल बालाओ !
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई आओ।
मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ। ✍
लो, मेरा नागर भाव भेंट जो लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

सब ओर लाभ-ही-लाभ बोध-विनिमय में,
 उत्साह मुझे है विविध वृत्त-संचय में।
 तुम अर्ध-नग्न क्यों रहो अशेष समय में !
 आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।

निकले फूलों का रंग, ढंग से ताया,
 मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

[‘साकेत’ से]

(५)

सो, अपने चंचलपन, सो !
 पुष्कर सोता है निज सर में,
 भ्रमर सो रहा है पुष्कर में, ^{कमल}
 गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
 सो, मेरे गृह-गुंजन, सो ! ^{व्यथा}
 सो, मेरे अंचल-धन, सो !

तनिक पार्श्व-परिवर्तन कर ले,
 उस नासा-पुट को भी भर ले।
 उभय पक्ष का मन तू हर ले,
 मेरे व्यथा-विनोदन, सो !
 सो, मेरे अंचल-धन सो !

रहे मन्द ही दीपक-माला,
 तुझे कौन भय-कष्ट-कसाला ?
 जाग रही है मेरी ज्वाला, ^{दुख-काल}

सो, मेरे आश्वासन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती ढलक रहे हैं,
मेरे अपलक-दर्शन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

तेरी साँसों का सुस्पन्दन,
मेरे तृप्त हृदय का चन्दन ! (छं)
सो, मैं कर लूँ जी भर क्रन्दन !
सो, उनके कुल-नन्दन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

खेले मन्द पवन अलकों से,
पोछूँ मैं उनको पलकों से ।
छद्-रद् की छवि की छलकों से ।
पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन, सो ।
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

[‘यशोधरा’ से]

(६)

धुसा तिमिर अलकों में भाग ।
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

जागा नूतन गन्ध पवन में,
 उठ तू अपने राज-भवन में,
 जाग उठे खग वन-उपवन में,
 और खगों में कलरव-राग ।
 जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

तात ! रात बीती वह काली,
 उजियाली ले आई लाली,
 लदी मोतियों से हरियाली, ^{अपने}
 ले ^{सुख} लीलाशाली, निज भाग ।
 जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

किरणों ने कर दिया सबेरा, ^{अपने}
 हिमकण-दर्पण में मुख हेरा, ^{अपने}
 मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा,
 उठ, पंकज पर पड़ पराग ।
 जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

^{जाग} तेरे वैतालिक गाते हैं,
^{स्वस्ति} लिये ब्राह्मण आते हैं,
 गोप दुग्ध-भाजन लाते हैं,
 ऊपर झलक रहा है, भाग ।
 जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

मेरे बेटा, भैया, राजा,
 उठ, मेरी गोदी में आ जा,
 भौंरा नचे, बजे हाँ, बाजा,

सजे श्याम हृय या सित नाग ?
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग !

जाग अरे, विस्मृत भव मेरे ।
आ तू, क्षम्य उपद्रव मेरे ।
उठ, उठ, सोये शैशव मेरे ।

जाग स्वप्न, उठ, तन्द्रा त्याग ।
जाग, दुःखिनी के सुख जाग !

['यशोधरा' से]

(७)

आओ हो वनवासी !
अब गृह भार नहीं सह सकती
देव, तुम्हारी दासी ।
राहुल पलकर जैसे तैसे,
करने लगा प्रश्न कुछ वैसे,
मैं अबोध, उत्तर दूँ कैसे ?
वह मेरा विश्वासी ।
आओ हो वनवासी !

उसे बताऊँ क्या, तुम आओ—
मुक्ति-युक्ति मुझसे सुन जाओ—
जन्म-मूल मातृत्व मिटाओ,
मिटे मरण-चौरासी ।
आओ हो वनवासी !

सहे आज यह मान तितिक्षा, ⁵³ दै
 क्षमा करो मेरी यह शिक्षा,
 ✓ ॥ हमीं गृहस्थ जनों की भिक्षा,
 पालेगी संन्यासी ।
 आओ हो वनवासी !

मुझको सोती छोड़ गये हो,
 पीठ फेर मुँह मोड़ गये हो,
 तुम्हीं जोड़कर तोड़ गये हो,
 साध - विराग - विलासी ।
 आओ हो वनवासी !

जल में शतदल तुल्य सरसते,
 तुम घर रहते, हम न तरसते,
 देखो, दो दो मेघ बरमते,
 मैं प्यासी की प्यासी ।
 आओ हो वनवासी !

['यशोधरा' से]

प्रश्न

- १। मैथिलीशरण गुप्त की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
- २। मैथिलीशरण गुप्त की लोकप्रियता के कारणों का उल्लेख कीजिए।
- ३। "निरख सखी.....भर लाये" की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए।
- ४। संग्रहीत रचनाओं के आधार पर सीता तथा यशोधरा का चरित्र-चित्रण कीजिए।

माखनलाल चतुर्वेदी

[जन्म : १८८८ ई०.....]

कैदी और कोकिल

क्या गाती हो ? क्यों रह रह जाती हो ? कोकिल, बोलो तो ?
क्या लाती हो ? सन्देशा किसका है ? कोकिल, बोलो तो ?

ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट भर खाना,
मरने भी देते नहीं तड़प रह जाना,
जीवन पर अब दिन रात कड़ा पहरा है,
शासन है या तम का प्रभाव गहरा है।

हिमकर निराश कर गया, रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यों आली ?
क्यों हूक पड़ी ? वेदना बोझवाली-सी, कोकिल, बोलो तो ?
क्या लुटा ? मृदुल वैभव की रखवाली-सी कोकिल, बोलो तो ?

बन्दी सोते हैं, है धर्धर श्वासों का,
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का,
अथवा स्वर है लोहे के दरवाजों का ।
बूटों का या सन्त्री की आवाजों का,

या करते गिनने वाले हाहाकार,
 सारी रातों है एक, दो, तीन, चार।
 मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
 बेसुरा ! मधुर क्यों गाने आई आली ?
 क्यों हुई बावली, अर्द्धरात्रि को चीखी, कोकिल बोलो तो ?
 किस दावानल की ज्वालाएँ दीखी, कोकिल बोलो तो ?

निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
 जी के घावों पर तरलामृत बरसाने,
 या वायु-विटप बल्लरी चीर हठ ठाने,
 दीवार चीरकर अपना स्वर अजमाने,
 या लेने आई मम आँखों का पानी,
 नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी ।

खा अन्धकार करते वे जग रखवाली,
 क्या उनकी आभा तुझे न भाई आली ?
 तुम रवि-किरणों से खेल जगत को रोज जगानेवाली,—
 कोकिल बोलो तो !
 क्यों अर्द्धरात्रि में विश्व जगाने आई हो मतवाली,
 कोकिल बोलो तो !

दूबों के आँसू धोती, रवि किरणों पर,
 मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर,
 ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
 ब्रह्मांड कँपाते उस उद्दण्ड पवन पर,

तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
 मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा,
 तब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या बेजाने—
 कोकिल बोलो तो ?
 क्यों तमोरात्रि पर विवश हुईं लिखने मधुरीली तानें—
 कोकिल, बोलो तो ?

क्या ? देख न सकती जंजीरों का गहना ?
 हथकड़ियाँ क्यों ? यह बृटिशराज का गहना
 मिट्टी पर ? अंगुलियों ने लिखे गाने !
 कोल्हू की चरमर-चूँ ? जीवन की तानें !
 हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
 खाली करता हूँ बृटिश अकड़ का कूआँ ।

दिन में मत करुणा जगे रहानेवाली,
 इसलिए रात में गजब ढा रही आली ?
 इस शान्त समय में अन्धकार को भेद रो रही क्यों हो—
 कोकिल बोलो तो ?
 चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—
 कोकिल, बोलो तो ?

काली तू रजनी भी काली,
 शासन की करनी भी काली,
 काली लहर, कल्पना काली,
 मेरी काल कोठरी काली,

टोपी काली, कम्बल कालो,
मेरी लौह - शृंखला काली,
पहर की हुंकृति की व्याली,
तिस पर है गाली ! ऐ आली !
इस काले संकट-मागर पर मरने को मदमाती, कोकिल बोलो तो ?
अपने चमकीले गीतों को किम विधि हो तैराती—
कोकिल, बोलो तो ?

तुम्हे मिली हरियाली डाली,
मुम्हे नमीव कोठरी काली,
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार,
तेरे गीतों उठती वाह,
रोना भी है मुम्हे गुनाह !
देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिस पर रण-भेरी !
इस हुंकृति पर अपनी कृति से और कहो क्या कर दूँ ?
कोकिल, बोलो तो ?
|मोह्म के व्रत पर, प्राणों का आसव किसमें भर दूँ,
कोकिल, बोलो तो ?

फिर कुह, अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
यह अन्धकार में मधुराई दफनाना,
नभ सीख चुका है कमजोरों को खाना,
क्यों बना रही अपने को उसका दाना ?

तिसपर करुणा-गाहक बन्दी सोते हैं,
 स्वप्नों में स्मृतियाँ श्वासों से धोते हैं।
 इन लौह-सीखचों की कठोर पाशों में,
 क्या भर दोगी ? बोलो निद्रित लाशों में,
 क्या घुल जायेगा रुदन तुम्हारा निश्वासों के द्वारा—
 कोकिल, बोलो तो ?
 और प्रात में हो जायेगा उलट पुलट जग सारा—
 कोकिल, बोलो तो ?

प्रश्न

- १। 'कैदी और कोकिल' का सारांश अपनी भाषा में लिखिए।
- २। माखनलाल चतुर्वेदी की रचना शैली की कौन सी विशेषता आपको आकर्षित करती है ?
- ३। इस कविता के आधार पर बन्दी-जीवन का चित्रण अपनी भाषा में कीजिये।
- ४। कोकिल का गान सुन कर कैदी के हृदय में जो भावनाएँ उठनी हैं उनका भाव विस्तार कीजिए।

जयशंकर 'प्रसाद'

[१८८६—१९३७ ई०]

गीत

बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी ।

खग कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा ।
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी ॥

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये ।
तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

(२)

उठ, उठ, री, लघु-लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगड़ाई - सी,
मलयानिल की परछाई - सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर ।

(शान्ति आसुन)

अनुपम

शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल, खेल ले ठहर ठहर!

उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद-चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखाएँ उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर!

तू भूल न री, पंकज-वन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी दुलक!
आ चूम पुलिन के विरस अधर!
(‘लहर’ से)

(३)

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की वात रे मन!

चिर विषाद विलीने^ई मन की,
इस व्यथा के तिमिर-वन की;
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन!

जहाँ मरु-ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन-घाटियों की, मैं सरस बरसात रे मन !

१. पवन की प्राचीर में रुक, दीर्घा

जला जीवन जी रहा भुक;

इस भुलसते विश्व दिन की, मैं कुसुम-ऋतु-रात रे मन !

२. चिर निराशा नीरधर से,
मे हाताई बना | प्रतिच्छायित अश्रु-सर में;

मधुप मुखर मरंद मुकुलित, मैं सजल जलजात रे मन !

['कामायनी' से]

आह्वान-गीत

जब मैं उल्लस
११/१० ७६१ हिमालय हिमाद्रि तुग शृंग से
११/१० ७६१ प्रबुद्ध गुद्ध भारती-कनक
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला शोभा
स्वतन्त्रता पुकारती—

३. अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पथ है, बड़े चलो, बड़े चलो,
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी,
सपूत मातृ-भूमि के !
रुको न शूर साहसी !

४. अत्राति सैन्य-सिन्धु में, सुबाड़वाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बड़े चलो, बड़े चलो ।

['चन्द्रगुप्त' से]

आँसू

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी वजती ;
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग-जल का ;
यह व्यर्थ साँस चल चल कर
करती है काम अनल का ।

बाड़व ज्वाला सोती थी
इस प्रणय-सिंधु के तल में,
प्यासी मछली-सी आँखें
थीं विकल रूप के जल में ।

अभिलाषाओं की करवट ०
फिर सुप्त व्यथा का जगना ;
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना ।

इस हृदय-कमल का घिरना
अलि-अलकों की उलझन में,
आँसू-मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास-पवन में ।

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

भंभा भकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सवने आ डेरा डाला।

वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहों भुवन में,
सुख दिया कहीं न दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में ?

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है,
आँखों में निद्रा
बनकर सपना होता है।

शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण ['आँसू' से]
जन्म १८५९ ई. में हुआ। शस्त्र-समर्पण (सामान्य) ['आँसू' से]
१९०५ ई. में किया गया। शस्त्र-समर्पण (सामान्य) ['आँसू' से]
१९०५ ई. में किया गया। शस्त्र-समर्पण (सामान्य) ['आँसू' से]

“ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर में—
अब तो न लेश मात्र।

लाल सिंह ! जीवित कलुष पंचनद का
देख, दिये देता है
सिंहों का समूह नख-दन्त आज अपना ।”

“अरी, रण-रंगिनी !

सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी !
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर ।

दुर्मद ^{अ. शा. १५}दुरन्त धर्म दस्युओं की त्रासिनी—
निकल, चली जा तू प्रतारणा के कर से ।”

“अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन क्या ?
तोपें मुंह खोले खड़ी देखती थीं त्रास से
जल्लियमनवाला में ।

आज के पराजित तो विजयी थे कल ही,
उनके समर वीर कर में तू नाचती
लप-लप करती थी—जीभ जैसे यम की ।

उठी तू न लूट त्रास भय से प्रचार को,
दारुण निराशा भरी आँखों से देखकर
दृष्ट अत्याचार को

एक पुत्र-वत्सला दुराशामयी विधवा
प्रकट पुकार उठी प्राण भरी पीड़ा से—
और भी ;

जन्म-भूमि दलित विकल अपमान से
त्रस्त हो कराहती थी
कैसे फिर रुकती ?”

“आज विजयी हो तुम

और हैं पराजित हम

तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है ।

वीर भूमि पंचनद वीरता से रिक्त नहीं ।

काठ के हों गोले जहाँ

आटा बारूद हो;

और पीठ पर हो दुरन्त दंशनों का त्रास

छाती लड़ती हो भरी आग, बाहु बल से

उस युद्ध में तो बस मृत्यु ही विजय है ।

सतलज के तट पर मृत्यु श्यामसिंह की—

देखी होगी तुमने भी वृद्ध वीर मूर्ति वह,

तोड़ा गया पुल प्रत्यावर्तन के पथ में

अपने प्रवंचकों से ।

लिखता अदृष्ट था विधाता वाम कर से ।

छल में विलीन बल—बल में विषाद था—

विकल विलास का ।

यवनों के हाथों से स्वतन्त्रता को छीन कर,

खेलता था यौवन-विलासी मत्त पंचनद—

प्रणव-विहीन एक वासना की छाया में ।

फिर भी लड़े थे हम निज प्राण-पण से ।

कहेगी शतद्रु शत-संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव—

स्वत्व-रक्षा में प्रबुद्ध थे ।

जीना जानते थे ।

मरने को मानते थे सिक्ख ।

किन्तु, आज उनकी अतीत वीर-गाथा हुई—

जीत होती जिसकी

वही है आज हारा हुआ ।”

“ऊर्जस्वित रक्त और उमंग भरा मन था
जिन युवकों के मणिबन्धों में अबन्ध बल
इतना भरा था

जो उलटता शतघ्नियों को ।

गोले जिनके थे गेंद

अग्निमयी क्रीड़ा थी

रक्त की नदी में सिर ऊँचा छाती कर
तैरते थे ।

वीर पंचनद के सपूत मातृभूमि के

सो गये प्रतारणा की थपकी लगी उन्हें

झल-बलिवेदी पर आज सब सो गये

रूप भरी, आशा भरी, यौवन अधीर भरी,

पुतली प्रणयिनी का बाहुपाश खोल कर,

दूध भरी दूध सी दुलार भरी माँ की गोद

सूनी कर सो गये ।

हुआ है सूना पंचनद
 भिक्षा नहीं माँगता हूँ
 आज इन प्राणों की
 क्योंकि, प्राण जिसका आहार, वही इसकी
 रखवाली आप करता है, महाकाल ही;
 शेर पंचनद का प्रवीर रणजीतसिंह
 आज मरता है देखो;
 सो रहा है पंचनद आज उसी शोक में।
 यह तलवार लो
 ले लो यह थाती है।”

[‘लहर’ से]

प्रश्न

- १। ‘छायावाद’ से आप क्या समझते हैं ?
- २। जयशंकर ‘प्रसाद’ की उन विशेषताओं का उल्लेख कीजिए जिनके कारण वे अपने युग के प्रमुखतम कवियों में गिने जाते हैं।
- ३। हिन्दी साहित्य में जयशंकर ‘प्रसाद’ का स्थान-निरूपण कीजिए।
- ४। ‘शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण’ कविता का सारांश लिखिए।
- ५। “बीती विभावरी.....विहाग री” की व्याख्या कीजिए।

सुमित्रानन्दन पंत

[जन्म : १९०० ई०.....]

नौका विहार

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !

अपलक अनन्त, नीरव भूतल ?

सैकत-शैया पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गङ्गा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !

तापस-बाला गङ्गा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल ।

गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर ।

साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल, मृदुल लहर ।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,

हम चले नाव लेकर सत्वर ।

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, खुला लंगर ।

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर ।

निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, विम्बित हो रजत पुलिन (निर्भर),^१
 दुहरे ऊँच लगते क्षण भर।
 कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,^{५१०}
 पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।

नौका से उठतीं जल-हिलोर,
 हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।
 विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक-दल,
 ज्योतित कर जल का अन्तस्तल;
 जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल,^५
 फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल।
 सामने शुक्र की छवि भलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
 रूपहरे कचों में हो ओभल।
 लहरों के घूँघट से भुक-भुक, दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
 दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक।

अब पहुँची चपला बीच धार,
 छिप गया चाँदनी का कगार।
 दो बाँहों - से दूरस्थ तीर, धारा का कृश-कोमल शरीर
 आलिंगन करने को अधीर।
 अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल, लगती भू-रेखा-सी अराल,
 अपलक नभ नील-नयन विशाल;
 माँ के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
 उर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप,^{५२५}

वह कौन विहग ? क्या विकल कोकें, उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक !

पनवार घुमा, अब प्रननु भार
नौका घूमी विपरीत धार ।
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार ।
चाँदी के साँपों सी रलमल नाचतीं रशिमयाँ जल में चल,
रेखाओं-सी खिच तरल-सरल ।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि, सौ-सौ उडु-भिलमिल,
फले फूले जल में फेनिल !
अब उथला सरिता का प्रवाह, लगी से ले-ले सहज थाह,
हम बड़े घाट को सहोत्साह ।

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार ।
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम ।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास ।
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन - नौका - विहार ।
में भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान !

संस्कृत गीतिका लाला
रसिकों को नीचे जाने माला
सिने को चरित्र से माला में

पद्यमाला
संख्या

कहो, तुम रूपसि कौन ?

व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश - कलाप,

मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

मूंद अधरों में मधुपालाप, (नींदी नाते)

पलक में निमिष, पदों में चाप, माहट

भाव-संकुल, बंकिम झू-चाप,

मौन, केवल तुम मौन !

ग्रीव तिर्यक, चम्पक-द्युति गात, चपल

नयन मुकुलित, नत मुख-जलजात, झुकाये मुने

देह छवि-छाया में दिन-रात,

कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल,

मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल-रोल,

सीप-से जलदों के पर खोल,

उड़ रही नभ में मौन !

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,

मदिर अधरों की सुरा अमोल, (नींदी नाते)

बने पावस-घन स्वर्ण-हिंदोल,

कहो, एकाकिनि, कौन ?

मधुर, मंथर तुम मौन !

संस्कृत गीतिका लाला
रसिकों को नीचे जाने माला
सिने को चरित्र से माला में

तप रे.....

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल ,
जग जीवन की ज्वाला में गल ,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल ,
तप रे विधुर विधुर मन ।

अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम ,
स्थापित कर जग में अपनापन ,
ढल रे ढल आतुर मन ।

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन ,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन ,
निज अरूप में, भर स्वरूप, मन ।
मूर्तिमान बन, निर्धन ।
गल रे गल निष्ठुर मन ।

मर्म कथा

बांध दिये क्यों प्राण
प्राणों से !
तुमने चिर अनजान
प्राणों से !

गोपन रह न सकेगी
 अव यह मर्म-कथा,
 प्राणों की न रुकेगी
 बढ़ती विरह व्यथा,
 विवश फूटते गान,
 प्राणों से !

यह विदेह प्राणों का बन्धन,
 अन्तर्ज्वाला में तपता तन !
 मुग्ध हृदय, सौन्दर्य-ज्योति को
 दग्ध कामना करता अर्पण !
 नहीं चाहता जो कुछ भी आदान
 प्राणों से !
 बाँध दिये क्यों प्राण
 प्राणों से ?

मर्म व्यथा

प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !
 क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
 वृथा प्रणय की अमर साध दी ?
 पर्वत को जल, दारु को अनल,
 वारिद को दी विद्युत चंचल,
 फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
 उड़ने की इच्छा अबाध दी !

हृदय दहन रे हृदय दहन ,
 प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन !
 यह सुलगेगी, होगी न सहन ,
 चिर-स्मृति की श्वास-समीर साथ दी !

प्राण गलेंगे, देह जलेगी,
 मर्म-व्यथा की कथा ढलेगी ,
 सोने - सी तप कर, निकलेगी
 प्रेयसि-प्रतिमा, ममता अगाध दी !
 प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !

प्रश्न

- १। सुमित्रानन्दन पंत की काव्यशैली की विशेषताओं का परिचय दीजिए।
- २। 'पंत जी प्रकृति के कवि हैं'—इस कथन से आप क्या समझते हैं ? संग्रहीत रचनाओं के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिए।
- ३। 'नौका विहार' कविता का सारांश सरल भाषा में लिखिए।
- ४। 'मर्मव्यथा' कविता का भाव विस्तार कीजिए।
- ५। पंत जी की उपरोक्त कविताओं में आपको कौन कविता सबसे अधिक प्रिय लगती है, और क्यों ?

तुम नभ हो, मैं नीलिमा ।
 तुम शरद-सुधाकर कला हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा ।
 तुम गंध कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय समीर ।
 तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति प्रेम जंजीर ।

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति ।
 तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति ।
 तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक कल कूजन तान
 तुम मदन-पंचशर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान ।

तुम अंबर, मैं दिग्वसना ।
 तुम चित्रकार घन-पटल श्याम, मैं तड़ितूलिका रचना ।
 तुम राग-ताण्डव उन्माद-नृत्य, मैं युवति मधुर नूपुर ध्वनि
 तुम ाद-वेद ओंकार-मार, मैं कवि शृंगार-शिरोमणि ।

तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति ।
 तुम कुन्द, इन्दु अरविन्द शुभ्र, तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

['परिमल के']

जागो फिर एक बार !

जागो फिर एक बार !
 प्यारे जगाते हुए हार सब तार तुम्हें
 अरुण पंख तरुण किरण
 खड़ी खोलती है द्वार
 जागो फिर एक बार !

‘निराला’

आँखें अलियों सी
किसी मधु की गलियों में फँसीं,
बन्द कर पाँखें
पी रही हूँ मधु मौन
या सोई कमल कोरकों में,
बन्द हो रहा गुंजार ?
जागो फिर एक बार !
अस्ताचल ढले रवि,
शशि छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी गन्धा जगी,
एक टक चकोर दर्शन प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रहा चन्द्र को चाव से,
स्निग्ध भार व्याकुल कुल
खुले फूल भुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद उर यौवन उभार
जागो फिर एक बार !
पिउ रव पपीहे बोल रहे,
सेज पर विरह विदग्ध वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन मिलन की
मूँद रहीं पलकें चारु,
नयन जल ढल गए,

लघुतर कर व्यथा भार
 जागो फिर एक बार !
 सहृदय समीर जैसे
 पोंछो प्रिय, नयन नीर
 शयन शिथिल बाहें
 भर स्वप्निल आवेश में,
 आतुर उर वसन मुक्त कर दो,
 सब सुप्ति सुखोन्माद हो,
 छूट छूट अलस
 फैल जाने दो पीठ पर
 कल्पना से कोमल
 ऋजु कुटिल प्रसार कामी केश गुच्छ ।
 तन मन थक जायें,
 मृदु सुरभि—सी समीर में
 बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
 मन में मन, जी जी में,
 एक अनुभव बहता रहे
 उभय आत्माओं में,
 कब से मैं रही पुकार
 जागो फिर एक बार !
 उग अरुणाचल में रवि
 आई भारती रति कवि कंठ में,
 क्षण क्षण में परिवर्तित
 होते रहे प्रकृति पट,

‘निराला’

गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने हजार
जागो फिर एक बार !

भिक्षुक

वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी भोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दयादृष्टि पाने की ओर बढ़ाए ।

भूख से सूख ओठ जब जाते
दाता—भाग्य विधाता से क्या पाते ?
घूंट आँसुओं के पीकर रह जाते ।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और भ्रष्ट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़ हुए ।

ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा,
 अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम ?
 तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा ।

प्रश्न

- १ । 'निराला' प्रारम्भ से ही विद्रोही कवि रहे हैं । इस कथन से आप क्या समझते हैं ?
- २ । निराला के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
- ३ । 'तुम और मैं' अथवा 'भिक्षुक' कविता का सारांश लिखिए ।
- ४ । "उग अहणाचल.....एक बार," की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए ।

महादेवी वर्मा

[जन्म : १६०७ ई०.....]

गीत

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !
जीवन विरह का जलजात !

आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल;
तरल जलकण से बने घन-सा क्षणिक मृदुगात !
जीवन विरह का जलजात !

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास,
अश्रु ही की हाट बन आती करुण बरसात !
जीवन विरह का जलजात !

काल इसको दे गया पल-आँसुओं का हार;
पृथ्वी इसकी कथा निश्वास ही में वात !
जीवन विरह का जलजात !

जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज,
खिल उठ निरुपम तुम्हारी दख स्मित का प्रात !
जीवन विरह का जलजात !

(२)

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?

उस असीम का सुंदर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे !

मेरी श्वासों करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे !

पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन से जल-कण रे !

अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चंदन रे !

स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !

मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !

धूप बने उड़ते रहते हैं प्रति पल मेरे स्पंदन रे !

प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

(३)

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !

युग-युग प्रति दिन प्रतिक्षण प्रतिपल ।

प्रियतम का पथ आलोकित कर ।

सौरभ फैला विपुल धूप बन,

मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन ;

दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,

तेरे जीवन का अणु गल गल ।

पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,

माँग रहे तुझसे ज्वाला कण,

विश्व शलभ सिर धुन कहता मैं,
 हाय न जल पाया तुझ में मिल।
 सिहर सिहर मेरे दीपक जल !
 जलते नभ में देख असंख्यक,
 स्नेहहीन नित कितने दीपक,
 जलमय सागर का उर जलता,
 विद्युत् ले घिरता है बादल।
 विहँस विहँस मेरे दीपक जल !
 द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
 ज्वाला को करते हृदयंगम,
 वसुधा के जड़ अंतर में भी
 बंदी है तापों की हलचल।
 बिखर-बिखर मेरे दीपक जल !
 मेरी निश्वासों से द्रुततर,
 सुभग न तू बुझने का भय कर
 मैं अंचल की ओट किए हूँ
 अपनी मृदु पलकों से चंचल।
 सहज सहज मेरे दीपक जल !
 सीमा की लघुता का बंधन,
 है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन
 मैं दृग के अक्षर कोषों से
 तुममें भरती हूँ आँसू जल;
 सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर
 खेलेंगे नव खेल निरन्तर
 तम के अणु-अणु में विद्युत्-सा
 अमिट चित्र अंकित करता चल !
 सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय
 वह समीप आता छलनामय,
 मधुर मिलन में मिट जाना तू
 उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल-खिल ।
 मंदिर मंदिर मेरे दीपक जल !
 प्रियतम का पथ आलोकित करे ।

(४)

में नीर भरी दुख की बदली !
 स्पंदन में चिर निस्पंद बसा,
 क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
 नयनों में दीपक से जलते
 पलकों में निर्भरिणी मचली !

मेरा पग पग संगीत-भरा,
 श्वासों से स्वप्न-पराग भरा,
 नभ के नव रंग बुनते दुकूल,
 छाया में मलय बयार पली !

मैं क्षितिज भृकुटि पर घिर धूमिल,
चिंता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नवजीवन अंकुर बन निकली !

पथ को न मलिन करता आना,
पद-चिह्न न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अंत खिली !

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

(५)

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु-बयार !
रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से,
अलि, दे मेरी कवरी सँवार !
पाटल के सुरभित रंगों से रँग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल,
गुँथ दे रशना में अलि-गुंजन से पूरित भरते वकुल-फूल,

रजनी से अंजन माँग सजनि,
दे मेरे अलसित नयन सार !

तारक-लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज,
बरसाता पथ में हरसिंगार केशर से वर्चित सुमन-लाज,

कंटकित रसालों पर उठता--
है पागल पिक शुक को पुकार !
लहराती आती मधु-व्रयार !

प्रश्न

- १। 'रहस्यवाद' से आप क्या समझते हैं ?
- २। "सच्चे अर्थों में रहस्यवाद के दर्शन महादेवी वर्मा की कविताओं में होते हैं"। इस कथन का तात्पर्य क्या है ?
- ३। संग्रहीत कविताओं के आधार पर महादेवी वर्मा की शैलीगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
- ४। "क्या पूजा.....नर्तन रे," कविता का सारांश सरल भाषा में लिखिए।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

[जन्म: १८६८ ई०]

मेरे जन-नायक की वाणी

गहन नील अंबर में गरजी, मेरे जन-नायक की वाणी;
अनिल, अनल, जल, थल में तरजी मेरे जन-नायक की वाणी।

(१)

जागो, जागो, अमृत सुवन तुम, जागो, जागो, सोने वालो;
जागो, तुम सिंहीं के छौनों, जागो सब कुट्ट खोने वालो;
जागो, देश-काल निर्माता, जागो तुम निज भाग्य-विधाता;
जागो, इतिहासों के ज्ञाता, जागो, तत्वज्ञान के दाता;
जागो, हिन्दू-सिक्ख-मुसलमाँ, जागो मेरे मानव प्राणी;
अनिल-अनल-जल-थल में गरजी, यों मम जन-नायक की वाणी।

(२)

हिमगिरि से टकराकर व्यापी इस वाणी की ध्वनि जग भर में; ~
गूँजी यह ध्वनि जग-मनुजों के हृदय-हृदय में अंतरतर में;
गरजी हिंद महासागर की प्रतिध्वनिमय उत्ताल तरंगें;
जग के महार्णवों में उमड़ीं अभिनव वीचि-विलास उमंगें;
लेकर यह सन्देश सुहावन चहुँदिसि बही हवा रस-सानो; ~
गहन नील अंबर में गरजी मेरे जन-नायक की वाणी।

(३)

आग | ज

ये नव-नव उद्बोधन के स्वर, नव निर्माण-प्रेरणाकारी;
 ये आत्मार्पण के पावन स्वन, ये नित नवल स्फूर्ति-संचारी;
 महानाश का यह सन्देश, यह निजत्व प्राप्ति का निमन्त्रण;
 यह अस्वीकृति की गंभीर ध्वनि, यह विप्लव का रुद्र प्रभञ्जन;
 अब तक तुमने क्या न सुनी यह भय-भंजन वाणी कल्याणी?
 गहन नील नभ में गरजी है मेरे जन-नायक की वाणी।

(४)

मेरा पूरब, मेरा पच्छिम, मेरा दक्षिण, मेरा उत्तर,
 मेरी गंगा, मेरी यमुना, मेरे सरवर, मेरे भूधर,
 आज सभी ये उद्बोपित हैं मेरे जन-नायक के स्वन से!
 गूँजी है यह महा ध्वनि युग-युग के सागर-मंथन से!!
 यह वाणी है मम मानव के अमर प्राण की अमिट निशानी;
 अनिल-अनल-जल-थल में गरजी मेरे जन-नायक की वाणी।

नल नभ (दाया)

अतिप्रसन्न (५)

निबिड़-गहन घननेत्र तिमिर का वृक्ष चीरते ये स्वर आए;
 अति जाज्वल्यमान दिनमणि की किरणें ये अपने संग लाए;
 अन्धकार का भार हट गया; जन-गण-मन-सरसिज मुसकाए;
 हृदय सरोवर हुआ तरंगित, नयनों में नव-नव रंग छाए;
 नस-नस में नव-रक्त प्रवाहित, मानव बने आत्म-अभिमानी;
 गहन नील अम्बर में गरजी मेरे जन-नायक की वाणी।

डोलेवालो !

डोला लिये चलो तुम झटपट, छोड़ो अटपट चाल रे !
 सजन-भवन पहुँचा दो हमको, मन का हाल-बिहाल रे !
 बरखा ऋतु में सब सहेलियाँ मैके पहुँची आय रे,
 बाबुल घर से आज चली हम, पिय-घर लाज बिहाय रे,
 उनके बिन बरसाती रातें कैसे कटें अचूक रे,
 पिय की बाँह उसीस न हो तो मिटे न मन की हूक रे।
 डोलेवालो, बढ़े चलो तुम आया संध्या-काल रे !
 सजन-भवन पहुँचा दो हमको, छोड़ो अटपट चाल रे !

ढली दुपहरी, किरनें तिरछी हुई, साँझ नजदीक रे,
 अभी दूर तक दीख पड़े है पथ की लम्बी लीक रे,
 आज साँझ के पहले ही तुम, पहुँचा दो पिय-गेह रे,
 हम कह आई हैं इन्दर से, रात पड़ेगा मेंह रे।
 घन गरजेंगे, रस बरसेगा, होगी सृष्टि तिहाल रे !
 डोला लिये चलो तुम जल्दी, छोड़ो अटपट चाल रे !

बाबुल-घर में नेह भरा है, पर बाँ द्वैत विचार रे,
 साजन के नव नेह-सलिल में है अद्वैत-बिहार रे,
 हृदय हृदय से, प्राण प्राण से, आज मिलें भर-पूर रे,
 पियमय तिय, तियमय पिय हों जब, तब हो संभ्रम दूर रे।
 दूर करो पथ के अंतर का यह अटपट जंजाल रे !
 डोलेवालो, बढ़े चलो, यह आया संध्या-काल रे !

घन गरजें तब हो न सजन-आलिंगन का संयोग रे,
तो फिर कैसे मिट सकता है हिय का अतुल वियोग रे ?
जब भनकारें अमित झिल्लियाँ, हो दादुर का शोर रे,
तब हम हुलस कहेंगी उनसे—तुम्हरा ओर न छोरे रे।

डोलेवालो, कोयल कुहकी हरित आम की डाल रे !
सजन-भवन पहुँचा दो हमको आया संध्या-काल रे !

हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके

ओस-बिन्दु-सम ढरके, हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके
आए इस जड़ता में चेतन तरल रूप हम धर के,
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके !

ना जाने किसने मनमानी कर हमको बरसाया ?
क्या जानें क्यों हमको इस भव-मरु-थल में सरसाया ?
किसने यों जड़ता-बंधन में बाँध हमें तरसाया ?
कौन खिलाड़ी हमको सीमा-बंधन दे हरसाया ?
था किसका आदेश कि उतरे हम नभ से भर-भर के ?
हम तो ओस-बिन्दु-सम ढरके !

आज वाष्प बन उड़ जाने की साध हिये उठ आई,
मन-पंछी ने पंख तौलने की रट आज लगाई,
क्या इस अनाहत ने आमंत्रण की ध्वनि सुन पाई ?

अथवा आज प्रयाण-काल की नव शंख-ध्वनि छाई ?
 लगता है, मानो जागे हं स्मरण आज अम्बर के ।
 हम तो ओस-विन्दु-सम ढरके !
 (‘क्वासि’ से)

प्रश्न

- १ । बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ की कविताओं के प्रधान गुण क्या हैं ?
- २ । ‘मेरे जन-नायक की वाणी’ कविता का सारांश अपनी भाषा में लिखिए ।
- ३ । ‘डोलेवालो’ कविता में कवि का संकेत किम ओर है ? कविता का गूढ़ार्थ क्या है ?

रामधारी सिंह 'दिनकर'

[जन्म: १६०८ ई०]

गीत-अगीत

गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(१)

गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है ।
तट पर एक गुलाब सोचता—
“देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता ।”

गा-गा कर बह रही निर्भरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है ।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोते पर छाया देती,
पंख फुला नीचे खोते में
शुकी बैठ है अंडे सेती ।

गाता शुक जब किरण बसन्ती
छूती अंग पर्ण से छन कर,
किन्तु शुकी के भीन उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर।

गूँज रहा शुक का स्वर वन में,
फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?

(३)

दो प्रेमी है यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है।

चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिपकर सुनती है,
“हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
विधना,” यों मन में गुनती है।

वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?

रात यों कहने लगा चाँद

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है !
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता, न सोता है ।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते ।

. आदमी का स्वप्न ? है वह बुलबुला जल का—
आज उठता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, फिर भी धन्य, ठहरा आदमी ही तो ?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है ।

मैं न बोला, किन्तु मेरी रागिनी बोली—
देख फिर से, चाँद ! मुझको जानता है तू ?
स्वप्न मेरे बुलबुले है ? है यही पानी ?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू ?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र हैं यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के साम्राट को जाकर खबर कर दे,
“रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिए, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।”

बापू

संसार पूजता जिन्हें तिलक,
रोली, फूलों के हारों से,
में उन्हें पूजता आया हूँ
बापू ! अब तक अंगारों से।

अंगार, विभूषण यह उनका
विद्युत् पीकर जो आते हैं
ऊँघती शिखाओं की लौ में
चेतना नई भर जाते हैं।

उनका किरीट जो हुआ भंग
करते प्रचंड हुंकारों से,
रोशनी छिटकती है जग में
जिनके शोणित की धारों से।

भेलते वह्नि के वारों को
जो तेजस्वी बन वह्नि प्रखर,
सहते ही नहीं दिया करते
विष का प्रचंड विष से उत्तर ।

• अंगार हार उनका, जिनकी
सुन हाँक समय रुक जाता है,
आदेश जिधर का देते हैं,
इतिहास उधर भुक् जाता है ।

अंगार हार उनका कि मृत्यु भी
जिनकी आग उगलती है,
सदियों तक जिनकी सही
हवा के वक्षस्थल पर जलती है ।

पर, तू इन सबसे परे; देख
तुझको अंगार लजाते हैं,
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत
सामने नहीं हो पाते हैं ।

तू कालोदधि का महास्तम्भ, आत्मा के नभ का तुंग केतु ।
बापू ! तू मर्त्य, अमर्त्य, स्वर्ग, पृथ्वी, भू, नभ का महा सेतु ॥
तेरा विराट यह रूप कल्पना-पट पर नहीं समाता है ।
जितना कुछ कहूँ मगर, कहने को शेष बहुत रह जाता है ॥
लज्जित मेरे अंगार; तिलक माला भी यदि ले आऊँ मैं ।
किस भाँति उठूँ इतना ऊपर ? मस्तक कैसे छू पाऊँ मैं ?

ग्रीवा तक हाथ न जा सकते, उँगलियाँ न छू सकतीं ललाट ।
वामन की पूजा किस प्रकार, पहुँचे तुम तक मानव विराट् ॥

प्रश्न

- १। ‘बापू’ कविता का सारांश सरल भाषा में लिखिए ।
- २। ‘रात यों कहन लगा चाँद’ कविता में कवि किस बात की ओर संकेत कर रहा है ?
- ३। “यौवन और जीवन के प्रति ‘दिनकर’ का आकर्षण पूर्ण मात्रा में उनकी कविताओं में प्रकट हुआ है ।” अपनी पढ़ी हुई कविताओं के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिए ।
- ४। “तू कालोदधि.....रह जाता है” की व्याख्या कीजिए ।
“कालोदधि का महास्तम्भ” का तात्पर्य क्या है ?

भगवतीचरण वर्मा

[जन्म : १६०३ ई०.....]

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;

आए बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी;
सब कहते ही रह गये, अरे
तुम कैसे आए, कहाँ चले ?

किस ओर चले ?—यह मत पूछो,
चलना है बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिए चले,
जग को अपना कुछ दिए चले;

दो बात कही दो बात सुनी;
कुछ हँसे और फिर कुछ रोए !
छककर सुख-दुख के घूंटों को
हम एक भाव से पिए चले !

हम भिखमंगों की दुनिया में
स्वच्छंद लुटाकर प्यार चले;
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले;

हम मान-रहित, अपमान-रहित
जी भरकर खुलकर खेल चुके;
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले !

हम भला - बुरा सब भूल चुके,
नत मस्तक हो, मुख मोड़ चले;
अभिशाप उठा कर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले;

अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहें रुकनेवाले !
हम स्वयं बँधे थे और स्वयं
हम अपने बंधन तोड़ चले !

भेंसागाड़ी

चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर जा रही चली भेंसागाड़ी !
गति के पागलपन से प्रेरित चलती रहती संसृति महान;
सागर पर चलते हैं जहाज, अंबर पर चलते वायुयान ।

भूतल के कोने-कोने में रेलों-ग्रामों का जाल बिछा,
 हैं दौड़ रहीं मोटरें-बसें लेकर मानव का वृहत् ज्ञान !
 पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं उच्छवास, भावनाएँ चाहें,
 वे भूखे अधखाये किसान, भर रहे जहाँ सूनी आहें।
 नंगे बच्चे, चिथड़े पहने, माताएँ जर्जर डोल रहीं,
 है जहाँ विवशता नृत्य कर रही, धूल उड़ाती हैं राहें !
 बीते युग की परछाहीं-सी, बीते युग का इतिहास लिए,
 'कल' के उन तंद्रिल सपनों में 'अब' का निर्दय उपहास लिए,
 गति में किन सदियों की जड़ता, मन में किस स्थिरता की ममता
 अपनी जर्जर-सी छाती में अपना जर्जर विश्वास लिए !
 भर-भरकर फिर मिटने का स्वर, कँप-कँप उठते जिसके स्तर-स्तर
 हिलती-डुलती, हँफती-कँपती कुछ रुक-रुककर, कुछ सिहर-सिहर,
 चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर जा रही चली भेंसागाड़ी !
 उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुल पाँच कोस की दूरी पर,
 भू की छाती पर फोड़ों-से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर !
 मैं कहता हूँ खँडहर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम,
 जिसमें भर देतीं धुँधलापन असफलता की सुबह-शाम,
 पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम,
 पैदा होना फिर मर जाना, बस यह लोगों का एक काम !
 था वहीं कटा दो दिन पहले गेहूँ का छोटा एक खेत !
 तुम सुख-सुषमा के लाल, तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक,
 तुमने देखी हैं मान-भरी उच्छृंखल सुंदरियाँ अनेक,
 तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट, ओ तुम समर्थ कर्त्ता-हर्त्ता,
 तुमने देखा है क्या, बोलो, हिलता-डुलता कंकाल एक ?

वह था उसका ही खेत, जिसे उसने उन पिछले चार माह, अपने शोणित को सुखा-सुखा, भर-भरकर अपनी विवश आह, तैयार किया था औ' घर में थी रही रुग्ण पत्नी कराह ! उसके वे बच्चे तीन जिन्हें माँ-बाप का मिला प्यार न था, जो थे जीवन के व्यंग्य, किन्तु मरने का भी अधिकार न था, थे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे मानो वे मोरी के कीड़े, वे निपट धिनौने, महा पतित, बौने, कुरूप टेढ़े-मेढ़े ! उसका कुटुंब था भरा-पुरा आहों से, हाहाकारों से, फाकों से लड़-लड़कर प्रति दिन घुट-घुटकर अत्याचारों से । तैयार किया था उसने ही अपना छोटा-सा एक खेत ! बीबी-बच्चों से छीन, बीन दाना-दाना, अपने में भर, भूखे तड़पें या मरें, भरों का तो भरना है उसको घर, धन की दानवता से पीड़ित, कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर, चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !

है बीस कोस पर एक नगर, उस एक नगर में एक हाट, जिसमें मानव की दानवता फैलाए है निज राज-पाट ; साहूकारों का भेस धरे हैं जहाँ चोर औ' गिरहकाट, है अभिशापों से घिरा जहाँ पशुता का कलुषित ठाट-बाट । चाँदी के टुकड़ों को लेने, प्रति दिन पिसकर, भूखों मरकर, भैंसागाड़ी पर लदा हुआ, जा रहा चला मानव जर्जर, है उसे चुकाना सूद, कर्ज, है उसे चुकाना अपना कर, जितना खाली है उसका घर उतना खाली उसका अन्तर । नीचे जलनेवाली पृथ्वी ऊपर जलनेवाला अंबर,

औ, कठिन भूख की जलन लिए नर बैठा है बनकर पत्थर,
पीछे है पशुता का खँडहर, दानवता का सामने नगर,
चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !

प्रश्न

- १। 'भैंसागाड़ी' कविता में कवि का संदेश क्या है ? कविता का सारांश सरल भाषा में लिखिए।
- २। "भगवतीचरण वर्मा मस्ती के गीत गाने वाले कवियों में अनूठे हैं" इस कथन की विवेचना उनकी किसी कविता के आधार पर कीजिए।
- ३। "हैं अभिशापो.....उसका अन्तर"; "हम भिखमंगों..... बाजी हार चले" की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए।

हरवंश राय 'बच्चन'

गीत

बीते दिन कब आनेवाले !
मेरी वाणी का मधुमय स्वर
विश्व सुनेगा कान लगाकर,
दूर गए पर मेरे उर की धड़कन को सुन पानेवाले !
बीते दिन कब आनेवाले ।
विश्व करेगा मेरा आदर
हाथ बढ़ाकर, शीश नवाकर,
पर न खुलेंगे नेत्र प्रतीक्षा में जो रहते थे मतवाले !
बीते दिन कब आनेवाले !
मुझमें है देवत्व जहाँ पर,
भुक् जाएगा लोक वहाँ पर,
पर न मिलेंगे मेरी दुर्बलता को अब दुलरानेवाले !
बीते दिन कब आनेवाले !

(२)

तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?
ध्येय न हो, पर है मग आगे,
बस धरता चल तू पग आगे,
बैठ न चलनेवालों के दल में तू आज तमाशा बनकर !
तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

मानव का इतिहास रहेगा
 कहीं, पुकार-पुकार कहेगा—
 निश्चय था गिर मर जाएगा चलता किंतु रहा जीवन भर !
 तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

जीवित भी तू आज मरा-सा
 पर मेरी तो यह अभिलाषा—
 चिंता-निकट भी पहुँच सकूँ मैं अपने पैरों-पैरों चलकर !
 तू क्यों बैठ गया है पथ पर ?

[‘निशा निमंत्रण’ से]

बापू के चले जाने पर

ओ देशवासियो, बैठ न जाओ पत्थर से,
 ओ देशवासियो रोओ मत यों निर्भर से,
 दरखास्त करें, आओ, कुछ अपने ईश्वर से
 वह सुनता है

गमजदों और

रंजीदों की ।

जब सार सरकता-सा लगता जग-जीवन से,
 अभिषिक्त करें, आओ, अपने को इस प्रण से—
 हम कभी न मिटने देंगे भारत के मन से
 दुनिया ऊँचे

आदर्शों की

उम्मीदों की ।

साधना एक युग-युग अन्तर में ठनी रहे—
 यह भूमि बुद्ध-बापू-से सुत की जनी रहे
 प्रार्थना एक, युग-युग पृथ्वी पर बनी रहे
 यह जाति

योगियों, सन्तों

और शहीदों की !

[‘खादी के फूल’ से]

पगध्वनि

पहचानी वह पगध्वनि मेरी ;
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !
 नंदन वन में उगनेवाली
 मेंहदी जिन तलवों की लाली
 बनकर भू पर आई, आली !
 मैं उन तलवों से चिर परिचित,
 मैं उन तलवों का चिर ज्ञानी !
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(२)

ऊषा ले अपनी अरुणाई,
 ले कर-किरणों की चतुराई,
 जिनमें जावक रचने आई,

मैं उन चरणों का चिर प्रेमी ,
 मैं उन चरणों का चिर ध्यानी ।
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(३)

उन मृदु चरणों का चुम्बन कर
 ऊसर भी हो उठता उर्वर ,
 तृण-कलि-कुसुमों से जाता भर
 मरुथल मधुवन वन लहराते ,
 पाषाण पिघल होते पानी !
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(४)

उन चरणों की मंजुल उँगली
 पर नख-नक्षत्रों की अवली ,
 जीवन के पथ की ज्योति भली ,
 जिसका अवलंबन कर जग ने
 सुख-सुषमा की नगरी जानी ।
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(५)

उन पद-पद्मों के प्रभ रजकण
 का अंजित कर मंत्रित अंजन
 खुलते कवि के चिर अंध नयन !

तम से आकर उर से मिलती
स्वप्नों की दुनिया की रानी ।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(६)

उन सुंदर चरणों का अर्चन
करते आँसू से सिंधु-नयन !
पद-रेखा में उच्छ्वास पवन
देखा करता अंकित अपनी
सौभाग्य सुरेखा कल्याणी ।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(७)

उन चल चरणों की कल छम-छम
से ही था निकला नाद प्रथम ,
गति से, मादक तालों का क्रम ,
संगीत, जिसे सारे जग ने
अपने सुख की भाषा मानी ।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(८)

हो शांत, जगत के कोलाहल !
रुक जा, री जीवन की हलचल !
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल ,

संदेश नया जो लाई है,
 यह चाल किसी की मस्तानी।
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(९)

किसके तमपूर्ण प्रहर भागे ?
 किसके चिर सोए दिन जागे ?
 सुख-स्वर्ग हुआ किसके आगे ?
 होगी किसके कंपित कर से
 इन शुभ चरणों की अगवानी ?
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१०)

बढ़ता जाता घुंघरू का रव ,
 क्या यह भी हो सकता संभव ?
 यह जीवन का अनुभव अभिनव !
 पदचाप शीघ्र, पद-राग तीव्र !
 स्वागत को उठ, रे कवि मानी !
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(११)

ध्वनि पास चली मेरे आती ,
 सब अंग शिथिल, पुलकित द्याती ,
 लो, गिरती पलकें मदमाती ,

पग को परिरंभण करने की ,
पर, इन युग बाहों ने ठानी ।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१२)

रव गूँजा भू पर, अंबर में ,
सर में, सरिता में, सागर में ,
प्रत्येक ध्वास में, प्रति स्वर में ,
किस-किसका आश्रय ले फैलें ,
मेरे हाथों की हैरानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१३)

ये ढूँढ़ रहे ध्वनि का उद्गम ,
मंजीर-मुखर-युग पद निर्मम ,
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम ,
इनको पाने का यत्न वृथा ,
श्रम करना केवल नादानी ।
वह पगध्वनि मरी पहचानी !

(१४)

ये कर नभ-जल-थल में भटके ,
आकर मेरे उर पर अटके ,
जो पग द्वय थे अंदर घट के ,

ये ढूँढ़ रहे उनको बाहर
 ये युग कर मेरे अज्ञानी !
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१५)

उर के ही मधुर अभाव चरण
 बन करते स्मृति-पट पर नर्तन,
 मुखरित होता रहता बन-बन
 मैं ही इन चरणों में नूपुर,
 नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी !
 वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

प्रश्न

- १। “‘बच्चन’ अपनी बात बहुत ही सहज ढंग से, सहज भाषा में कह जाते हैं—”। पढ़ी हुई उनकी रचनाओं के आधार पर इस मत की विवेचना कीजिए।
- २। पगध्वनि शीर्षक कविता की व्याख्या अपने शब्दों में कीजिए।
- ३। “‘बच्चन की अभिव्यंजना में एक परिष्कृत मौलिकता है।”—इस कथन के समर्थन में उदाहरण दीजिए।

THE following pages contain advertisements
of Macmillan books on kindred subjects

